इग्नू
जन-जन का
विश्वविद्यालय
इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

MHD - 22

कबीर का विशेष अध्ययन

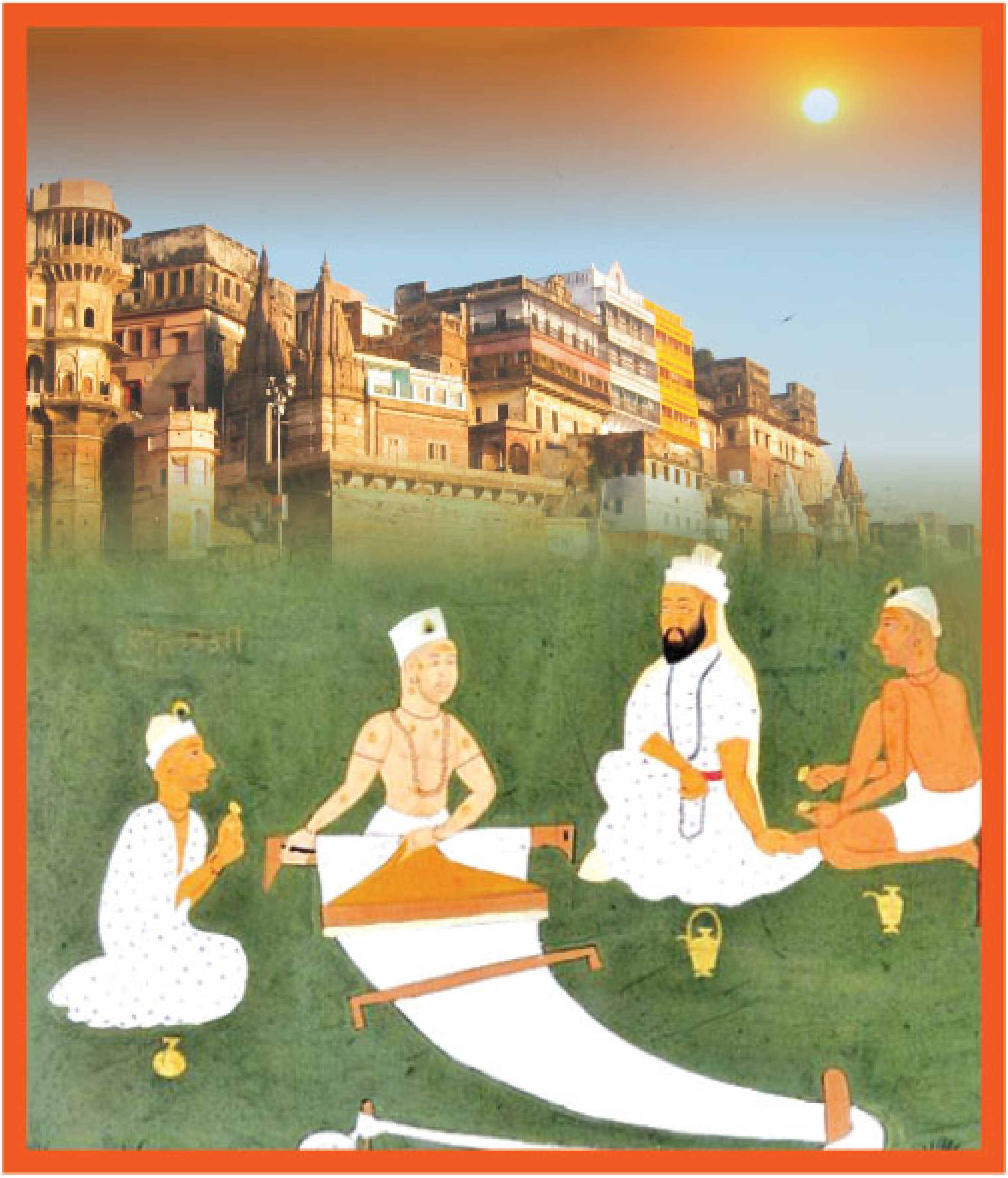

कबीर का चिंतन

2

MHD-22
कबीर का विशेष अध्ययन

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय
मानविकी विद्यापीठ

खंड

2

कबीर का चिंतन

इकाई 6
कबीर के दार्शनिक विचार 5

इकाई 7
कबीर की कविता में दर्शन 27

इकाई 8
कबीर की सामाजिक मान्यताएँ 39

इकाई 9
कबीर और धार्मिक रूढ़िवाद 55

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

विशेषज्ञ समिति

प्रो. नित्यानंद तिवारी (सेवानिवृत्त)
दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली

प्रो. मैनेजर पाण्डेय (सेवानिवृत्त)
जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय
नई दिल्ली

प्रो. कमला प्रसाद

प्रो. चन्द्रकला पांडेय (सेवानिवृत्त)
कलकत्ता विश्वविद्यालय
कोलकाता

प्रो. ए. अरविन्दाक्षन (सेवानिवृत्त)
कोचीन विज्ञान एवं तकनीकी
विश्वविद्यालय, कोचीन

प्रो. नूरजहाँ बेगम (सेवानिवृत्त)
केंद्रीय विश्वविद्यालय
हैदराबाद

संकाय सदस्य
प्रो. सत्यकाम (निदेशक)
प्रो. शत्रुघ्न कुमार
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
(पाठ्यक्रम संयोजक)
प्रो. जितेन्द्र श्रीवास्तव

पाठ्यक्रम संकल्पना
प्रो. रामबक्ष
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम निर्माण

इकाई लेखक	इकाई संख्या
प्रो. लल्लन राय शिमला	6 एवं 7
डॉ. राजीव कुमार परामर्शदाता (हिंदी) इग्नू	6 (संशोधन एवं परिवर्द्धन)
प्रो. अनिल राय दिल्ली विश्वविद्यायल, दिल्ली	8 एवं 9

पाठ्यक्रम संपादक
प्रो. सत्यकाम
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी

पाठ्यक्रम संयोजक एवं खंड संपादक
प्रो. स्मिता चतुर्वेदी
मानविकी विद्यापीठ
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

सहयोग :
डॉ. शंभुनाथ मिश्र
परामर्शदाता, हिंदी, मानविकी विद्यापीठ,
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

सचिवालयीय सहयोग :
श्री नवल कुमार, मानविकी विद्यापीठ,
इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

आवरण :
सुश्री अरविंदर चावला
एडीए ग्राफिक्स, नई दिल्ली

मुद्रण निर्माण

श्री सी. एन. पाण्डेय
अनुभाग अधिकारी
मानविकी विद्यापीठ, इग्नू, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली

जुलाई, 2019

© *इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय, 2019*

ISBN-978-93-89200-31-7

सर्वाधिकार सुरक्षित। इस कार्य का कोई भी अंश इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की लिखित अनुमति के बिना किसी भी रूप में मिमियोग्राफ (मुद्रण) द्वारा या अन्यथा पुनः प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय के बारे में और अधिक जानकारी विश्वविद्यालय के कार्यालय, मैदान गढ़ी, नई दिल्ली-110 068 से प्राप्त की जा सकती है।

इंदिरा गांधी राष्ट्रीय मुक्त विश्वविद्यालय की ओर से प्रो. सत्यकाम, निदेशक (मानविकी विद्यापीठ) द्वारा मुद्रित एवं प्रकाशित।

लेजर टाइप सेटिंग : राजश्री कम्प्यूटर्स, वी–166ए, भगवती विहार, (नजदीक सेक्टर 2 द्वारका), उत्तम नगर, नई दिल्ली–110059

मुद्रित

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

खंड 2 का परिचय

इस पाठ्यक्रम के खंड 2 'कबीर का चिंतन' में कबीर के दर्शन और उनकी सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं पर विचार किया जाएगा। कबीर की कविता में उनके दर्शन की विशेषताएँ स्पष्ट रूप से परिलक्षित होती है। उनकी कविता केवल अनुभवजन्य ही नहीं है अपितु इसके मूल में गंभीर चिंतन एवं विचार निहित है। वे अपने दार्शनिक विचारों को प्रचारित करने के लिए सामाजिक जीवन के विविध रूपों का सहारा लेते हैं और उन्हें अपने कविता में उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत करते हैं। इसी प्रक्रिया में कबीर अपनी धारणाओं की भी अभिव्यक्ति करते हैं। कबीरदास एक सच्चे चिंतक और भक्त थे जो समाज की बहुसंख्यक जनता के हित साधक थे। कबीर ने आध्यात्मिक क्षेत्र में अद्वैतदर्शन को अपनाया और समाज के क्षेत्र में समानता और भाईचारे को केन्द्र में रखकर सामाजिक अद्वैत को स्वीकृति दी। कबीर की कविता में दर्शन के साथ–साथ सामाजिक साम्य की भावना और धार्मिक रूढ़ियों के प्रति विरोध भी दिखाई देता है। इस खंड में कबीर के दर्शन, उनकी कविताओं में निहित दार्शनिक विचार, उनकी सामाजिक मान्यताएँ तथा धार्मिक रूढ़िवादिता के प्रति उनके प्रतिरोध की चर्चा की गई है।

इस खंड में कुल 4 इकाइयाँ है। इकाई 6 'कबीर के दार्शनिक विचार' है। इस इकाई में कबीर के सैद्धांतिक दर्शन पर विचार किया गया है और कबीर की साधना में योग, ज्ञान और प्रेम के महत्व का प्रतिपादन किया गया है। कबीर के दर्शन में माया, जीवन जगत, सहजसाधना के स्वरूप का विश्लेषण भी इस इकाई में प्रस्तुत किया गया है।

इकाई 7 'कबीर की कविता में दर्शन' है। कबीर की कविता में वैयक्तिक अनुभव ही उनके दार्शनिक अनुभव के रूप में दृष्टिगत होता है। वे धर्म के कर्मकाण्डी पक्ष का विरोध करते दिखाई देते हैं और आध्यात्मिक क्षेत्र में समाज के सभी वर्गों की समानता की बात करते हैं। इस इकाई में कबीर की कविता में निहित दर्शन, उनकी उलटबासियों की विशेषताएँ और कबीर के रहस्यवाद पर गहराई में विचार किया गया है।

इकाई 8 'कबीर की सामाजिक मान्यताएँ' है। कबीर भक्तिकाल के महत्वपूर्ण कवि होने के साथ–साथ समाज सुधार के भी पक्षधर रहे हैं। उनके समय में सामाजिक, धार्मिक, आर्थिक विषमता समाज में व्याप्त थी। कबीर ने अपनी कविताओं के माध्यम से इन विषमताओं पर कुठाराघात किया। इस इकाई में कबीर की कविता में निहित सामाजिक मान्यताओं पर विस्तार से चर्चा की गई है।

इकाई 9 'कबीर और धार्मिक रूढ़िवाद' है। कबीर के समय का समाज अनेक प्रकार के अंतर्विरोधों, सामाजिक–धार्मिक पाखण्डों और धार्मिक रूढ़ियों से ग्रस्त था। कबीर का दृष्टिकोण मानवतावादी था। इसलिए उन्होंने बाह्याडंबरों की अपेक्षा मनुष्य के अंतर्मन को शुद्ध और निर्मल रखने की बात की। इस इकाई में मध्यकालीन धार्मिक रूढ़ियों पर विचार करते हुए कबीर के साहित्य में उसके विविध रूपों की चर्चा की गई है साथ ही, धार्मिक रूढ़ियों के प्रति कबीर के विद्रोह पर भी प्रकाश डाला गया है।

इस प्रकार यह खंड संपन्न होता है। इकाई से सम्बंधित कुछ उपयोगी पुस्तकों की सूची भी आवश्यकतानुसार दी गई है। इकाइयों में विवेचित विषयों के संदर्भ में और अधिक गंभीर अध्ययन करने के लिए आप इन पुस्तकों को पुस्तकालय से प्राप्त कर सकते हैं।

शुभकामनाओं के साथ!

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 6 कबीर के दार्शनिक विचार

इकाई की रूपरेखा

6.0 उद्देश्य
6.1 प्रस्तावना
6.2 शंकराचार्य और कबीर का अद्वैतवाद : साम्य-वैषम्य
6.3 माया की अवधारणा
6.4 जगत की निस्सारता
6.5 जीवन आधारित दर्शन
6.6 कबीर का ब्रह्म-कबीर के राम
6.7 सहज साधना
6.8 योग, ज्ञान और प्रेम का समन्वय
6.9 गुरु का श्रेष्ठ पद
6.10 सारांश
6.11 अभ्यास प्रश्न

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

6.0 उद्देश्य

इस पाठ्यक्रम के खंड-2 की यह पहली इकाई है। यह इकाई कबीर के दार्शनिक विचारों से संबधित है। इस इकाई के अध्ययन के बाद आप :

- शंकराचार्य और कबीर के अद्वैतवाद में अंतर कर पाएँगे;
- कबीर की माया संबंधी मान्यताओं की जानकारी दे सकेंगे;
- कबीर के दर्शन में जगत की निस्सारता के विभिन्न आयामों को समझ सकेंगे;
- कबीर का दर्शन जीवन आधारित दर्शन क्यों है, इसे स्पष्ट कर पाएँगे;
- कबीर की सहज-साधना के अभिप्राय पर विचार कर सकेंगे;
- कबीर की साधना में योग, ज्ञान और प्रेम को रेखांकित कर सकेंगे; और
- कबीर के दर्शन में गुरु के महत्व को स्पष्ट करने में सक्षम हो सकेंगे।

6.1 प्रस्तावना

कबीर अपने समय के क्रांतिकारी युगद्रष्टा थे। वे प्रधानतः एक भक्त थे, लेकिन भक्ति के अधिकार को वे सामान्य जन तक ले गए। उन्होंने ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को अपनाते हुए उसकी साधना में बाह्याचार और कर्मकांड की सर्वथा उपेक्षा की। वे जिस साधना पद्धति को विकसित कर रहे थे वह आम लोगों के जीवन और पहुँच के अनुकूल थी। अपनी साधना पद्धति के विकास के क्रम में कबीर ने अपने समय के सभी धार्मिक संप्रदायों–हिंदू मुसलमान, सिद्ध, नाथ, वैष्णव, शाक्त आदि की मान्यताओं का परीक्षण किया तथा संकीर्णताओं और रूढ़ियों पर प्रहार किया। इसी क्रम में उन्होंने जो विचार व्यक्त किए हैं उसी से उनकी दार्शनिक मान्यताएँ उभरकर सामने आई। दर्शन पर उन्होंने

अलग से कुछ नहीं कहा, उनके दार्शनिक विचार साधना से संबंधित विचारों, मान्यताओं और निर्देशों से उद्भूत हैं। इसके बावजूद ब्रह्म, माया, कर्मकांड, भक्ति संबंधी प्रेमादि विभिन्न भाव, गुरु की महिमा, योग के महत्व, ज्ञान, विभिन्न धार्मिक आचार आदि के संबंध में उनकी कुछ ठोस मान्यताएँ हैं। वे अद्वैत पर शंकराचार्य से कुछ बिंदुओं पर साम्य रखते हैं, लेकिन निर्गुण ब्रह्म तक पहुँचने के संदर्भ में दोनों की मान्यताओं में फर्क आ जाता है। माया संबंधी उनकी मान्यताएँ भारतीय परंपरा के मेल में हैं, लेकिन ब्रह्म संबंधी उनकी अपनी मान्यताएँ हैं। उपासना में वे कर्मकांड की बजाए आचरण की आत्यंतिक शुद्धता की बातें करते हैं। इस इकाई में आप इन संदर्भों में कबीर के दर्शन की विशिष्टताओं को उनकी वाणियों के माध्यम से विस्तार से समझ सकेंगे।

6.2 शंकराचार्य और कबीर का अद्वैत : साम्य-वैषम्य

कबीर मूलतः भक्त कवि हैं। उनकी भक्ति का मार्ग निर्गुण है। कबीर जिस समय और समाज में मौजूद थे उसमें उनके सामने तमाम किस्म की धार्मिक रूढ़ियाँ, बाह्याचार और आडंबर का जाल फैला हुआ था। धर्म के इन्हीं प्रपंचों के बीच कबीर साधना के एक ऐसे मार्ग की वकालत कर रहे थे जो उनकी दृष्टि में सच्चा और सहज था। साधना के अपने मार्ग की प्रस्तावना के क्रम में ही कबीर ईश्वर और सृष्टि के रहस्यों तथा उनके अंतर्संबंधों के तमाम पहलुओं की समीक्षा करते हैं। ऐसा करते हुए उनकी वाणी दर्शन की ऊँचाइयों तक पहुँच जाती है।

कबीर न तो शास्त्रीय तत्वचिंतक थे और न ही किसी नवीन पंथ के प्रस्तावक। परंपरा से उन्हें जो दाय प्राप्त था उसी के संयोजन से उन्होंने अपनी साधना का ताना-बाना गढ़ा। सकारात्मक तत्व को स्वीकार किया तथा जो उन्हें जो अस्वीकार्य था उसे उन्होंने खारिज कर दिया। कबीर ने अपने आराध्य को 'राम' कहा है, लेकिन वह अवतारी राम नहीं हैं। वह निर्गुण-निराकार ब्रह्म हैं। उसकी प्राप्ति के लिए ज्ञान को आवश्यक बताया है। माया के अस्तित्व को स्वीकार किया है। ब्रह्म, माया, ज्ञान आदि संबंधी मतो के आलोक में ही उन्हें हिंदू साधना मार्ग के ब्रह्मवाद-अद्वैतवाद से जोड़ा गया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने उन पर अन्य प्रभावों के साथ भारतीय ब्रह्मवाद का प्रभाव होना बताया है। रामकुमार वर्मा ने अद्वैतवाद को कबीर के रहस्यवाद का प्राण और आधार बताया है। वासुदेव सिंह के अनुसार, "उनके लिए ज्ञान का वास्तविक अर्थ है– अद्वैत की अनुभूति, आत्मा के वास्तविक स्वरूप की जानकारी और उसमें अवस्थित रहना।" कबीर के काव्य में अनेक पद और साखियाँ ऐसी हैं जिनमें ब्रह्म संबंधी उनकी मान्यताएँ भारतीय अद्वैतवाद के साम्य में दिखाई देती है। उदाहरणस्वरूप–

> जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि हैं मैं नाँहिं।
> सब अँधियारा मिटि गया, जब दीपक देख्या माँहि।।

अर्थात जब तक मेरा 'मैं' अर्थात अहंकार था तब हरि (ब्रह्म) का साक्षात्कार नहीं हुआ, लेकिन हरि के साक्षात्कार से साथ मेरा अहंकार अथवा निजपन खत्म हो गया। जब दीपक रूपी ज्ञान मिला तो मोह अथवा अहंकार रूपी अँधियारा खत्म हो गया।

कबीर की यह साखी अद्वैतवाद की मूल भावना के अनुरूप है। अद्वैतवाद में कहा गया है कि ब्रह्म और जीव के बीच जो अंतर दिखाई देता है वह माया के आवरण के कारण है अन्यथा दोनों एक हैं। ज्ञान के आगमन के साथ यह आवरण हट जाता है तथा ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं रह जाता। प्रस्तुत साखी में भी हम यही भावना देखते हैं। 'हरि' और 'मैं' में तभी तक भेद है जब तक कि अज्ञानरूपी अंधेरा है, दीपकरूपी ज्ञान के आलोक में दोनों में अभेद्य की स्थिति हो जाती है।

यद्यपि कबीर के काव्य में अद्वैतवाद की प्रतिध्वनि है, परंतु कबीर में अद्वैत की जो स्थिति है उसकी अपनी निजी विशिष्टताएँ हैं। इसे समझने के लिए भारतीय दर्शन में अद्वैतवाद के विकास को जानना आवश्यक है।

वैदिक साहित्य का विकास क्रमशः संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद में हुआ। इस विकास क्रम में उपनिषद अंतिम पड़ाव है, इस कारण इन्हें वेदांत भी कहा गया है। वेदांत ब्रह्म ज्ञान संबंधी विषयों का विवेचन है। यहाँ अद्वैत संबंधी विचार मिलते हैं। छंदोग्य उपनिषद में जीव को ब्रह्मस्वरूप कहा गया है। अद्वैतवाद का व्यवस्थित विवेचन शंकराचार्य के दर्शन में मिलता है। शंकराचार्य का प्रसिद्ध सूत्र है– 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः' अर्थात ब्रह्म सत्य है और जगत मिथ्या है। ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है। ब्रह्म और जीव में जो भेद मालूम होता है वह माया के आवरण के कारण है। जगत ब्रह्म का विवर्त अर्थात भ्रामक आभास है। माया या अविद्या ब्रह्म की अनिर्वचनीय शक्ति है जो सत् पर आवरण डाल देती है तथा सत् से जीव को भ्रमित कर देती है। ज्ञान से अविद्या की निवृत्ति होती है तथा ब्रह्म और जीव के बीच माया के कारण भ्रम की जो स्थिति है वह मिट जाती है। ब्रह्म और जीव के एकत्व तथा माया के कारण उसमें आए व्यवधान को कबीर भी मानते हैं। कबीर कहते हैः

> जल मैं कुंभ कुंभ मैं जल है, बाहरि भीतरि पानी।
> फूटा कुंभ जल जलहिं समानाँ, यह तत कथौ गियानी।

इस सृष्टि (जल) में, (जो कि ब्रह्म का विवर्त है) कुंभ रूपी शरीर है। इस शरीर में (कुंभ में) में भी आत्मा है वह ब्रह्म ही है। इस प्रकार बाहर भीतर ब्रह्म ही है। शरीर जो कि मायारूप है उसके हटते ही ब्रह्म और आत्मा एकाकार हो जाता है।

दरअसल शंकर के अद्वैत की कबीर के काव्य में प्रतिध्वनि देखी गई है, उसका कारण यह है कि शंकर और कबीर दोनों जीव और ब्रह्म में ऐक्य देखते हैं, दोनों ब्रह्म को निर्गुण निराकार मानते हैं। उसे अनिर्वचनीय मानते हैं। जीव और ब्रह्म के बीच में बाधा उपस्थित करने वाली शक्ति के रूप में माया को देखते हैं। ज्ञान के द्वारा माया के आवरण का नाश हो जाना दोनों स्वीकारते हैं :

> संतौ भाई आई ग्यान की आँधी रे।
> भ्रम की टाटी सबै उडॉणी, माया रहै न बाँधी।।
>
> हिति चिति की द्वै थूँनी गिराँनी, मोह बलिंडा तूटा।।
> त्रिस्नाँ हाँनि परि घर ऊपरि, कुबधि का भौडा फूटा।।

हे संत भाई ग्यान की आँधी आने से माया के बंधन से बँधी भ्रम की टाटी उड़ गई। राग द्वेष की दोनों थूनी (छप्पर को सहारा देने वाला टेक) गिर गई और मोहरूपी बल्ली (छप्पर को ऊपर सहारा देने वाली लकड़ी) भी टूट गई। इस कारण तृष्णा का छप्पर गिर गया और अविद्या (कुबुद्धि) का भांडा फूट गया। शंकर भी अपने अद्वैत में लगभग यही बात कहते हैं – ज्ञान के आने से अविद्या का नाश होता है और माया द्वारा पैदा किया गया भ्रम मिट जाता है।

कबीर ब्रह्म की निर्गुण संबंधी अवधारणा, ब्रह्म और जीव के ऐक्य पर शंकराचार्य के अद्वैतवाद से साम्य रखते हैं पर साधना के क्षेत्र में आने पर, जगत की अवधारणा के संबंध में कबीर और शंकराचार्य के मत में भिन्नता दिखाई देती है, यद्यपि कबीर ब्रह्म को राम, गोबिंद आदि अनेक नामों से पुकारते हैं पर उनके राम, ईश्वर अथवा ब्रह्म में कोई भेद नहीं हैं। शंकराचार्य के यहाँ ईश्वर ब्रह्म से तात्विक रूप से पृथक हैं। निर्गुण ब्रह्म

मायोपाधिक होकर ईश्वर है। वही जगत प्रपंच रचता है। मायोपाधिक होकर वह सगुण रूप में अवतरित होता है। कबीर ईश्वर के सगुण रूप को, उसके अवतारी रूप को स्वीकार नहीं करतेः

लोका तुम्ह जे कहत हौ नंद कौ नंदन नंद कहौ धुं काके रे।
धरनि अकास दोऊ नहीं होते, तब यह नंद कहाँ थौ रे।।

जाँभे मरै न सँकटि आवै, नाव निरंजन जाकौ रे।
अबिनासी उपजै नहिं बिनसै, संत सुजस कहै ताको रे।।

लोगों तुम उसे नंद का पुत्र कहते हो तो नंद किसका नंदन था। जब धरती और आकाश नहीं था तब यह नंद कहाँ था। यहाँ कबीर का आशय यह है कि तुम नंद के पुत्र को ब्रह्म मानते हो वह प्रलय के अवस्था में कहा थे। ब्रह्म तो वह है जो न जन्मता है न मरता है। उसका नाम निरंजन अर्थात निर्लिप्त है। जो अविनाशी ब्रह्म है उसका न तो जन्म होता है और न उसका विनाश होता है अर्थात उसका आविर्भाव अथवा तिरोभाव नहीं होग।

शंकराचार्य ने ब्रह्म पर दो दृष्टियों से विचार किया है (1) परमार्थिक दृष्टि से और (2) व्यवहारिक दृष्टि से। परमार्थिक दृष्टि से वह अनंत, अनादि, आनंदमय, चेतनस्वरूप है। व्यवहारिक दृष्टि से वह इस जगत का कर्ता है। इसके लिए वह तटस्थ लक्षण धारण करता है और सगुण रूप में आ जाता है। जगत कर्ता के रूप में वह इसका पालक और संहारक भी है। मायोपाधिक रूप में वह उपासना का विषय है। यद्यपि शंकराचार्य ने बंधन मुक्ति के लिए ज्ञान को आवश्यक बतलाया है लेकिन इस ओर अग्रसर होने के लिए अंतःकरण की शुद्धि आवश्यक है। इस कार्य के लिए उन्होंने वेद द्वारा प्रतिपादित कर्म करने का प्रस्ताव किया।

कबीर ईश्वर के रूप में इस तरह का भेद नहीं मानते और उसी एक निराकार निर्गुण को विभिन्न तरह से भजते हैं। दूसरा अपने उपास्य तक पहुँचने के लिए वे नाथों द्वारा अनुमोदित योगमार्ग तथा सूफियों-सी तन्मयता वाले प्रेममार्ग की ओर बढ़ते हैं।

6.3 माया की अवधारणा

कबीर ने ब्रह्म से साक्षात्कार के मार्ग में माया द्वारा उत्पन्न की गई बाधाओं की चर्चा बार-बार की है। भारतीय दार्शनिक परंपरा में माया की इन भूमिकाओं को बार-बार दोहराया गया है। कबीर कर्मकांड, सगुण ब्रह्म आदि संबंधी परंपरागत मान्यताओं से टकराते हैं, परंतु साधना के मार्ग में माया की नकारात्मक भूमिका है। उससे उनकी सहमति प्रतीत होती है। कबीर माया संबंधी वेदांत की मूल भावना को स्वीकार करते हुए बहुत कुछ अपनी ओर से भी जोड़ते हैं। रामकुमार वर्मा ने इस संदर्भ में रेखांकित किया है कि ''सामान्यतः कबीर की माया संबंधी अवधारणा शंकराचार्य से प्रभावित है और उन्होंने माया को भ्रामक तथा अनित्य बताया है, किंतु उन्होंने इस सिद्धान्त में अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ा है। उनका माया संबंधी मत सिद्धान्त की भावना से सीमित नहीं है, बल्कि उसका तात्पर्य—सामान्य मानव के अनिष्ट आकर्षण या प्रलोभव का षडयंत्र है।'' ध्यातव्य है कि मध्ययुगीन समाज में विभिन्न साधनाओं के द्वारा प्रभु का सामीप्य पाना जीवन-शैली का प्रमुख हिस्सा था। माया मनुष्य को इस लक्ष्य से भटकाने वाली शक्ति है, इस अर्थ में यह अनिष्टकारी है। अपनी एक साखी में कबीर माया द्वारा मनुष्य को प्रभु से विरत करने वाली नकारात्मक शक्ति के रूप में चिह्नित करते हैं :

कबीर माया पापणीं, हरि सूँ करे हराम।
मुख कड़ियाली कुमति की, कहण न देई राम।

भारतीय दार्शनिक परंपरा में माया तत्व की उपस्थिति वैदिक संहिताओं के काल से ही पायी जाती है। हालाँकि वेदों में माया का स्वरूप परवर्ती तत्व विवेचनों से किंचित भिन्न है। ऋग्वेद में माया ईश्वर की एक प्रकार की सहयोगिनी शक्ति है। इन्द्रादि देव अपने अनेक कार्यों को माया के माध्यम से सिद्ध करते हैं। लेकिन उपनिषद तक आते आते इसकी कार्यकारी शक्ति भ्रम के आवरण से आच्छादित हो जाती है। उपनिषद में इसे सृष्टि के निर्माण करने वाली शक्ति के रूप में भी देखा गया है। श्वेताश्वेतर उपनिषद में ईश्वर को 'मायी' कहा गया है जो सृष्टि का निर्माण अपनी माया शक्ति के द्वारा करता है। बौद्ध दर्शन में माया से ही मिलती-जुलती शक्ति अविद्या है। अविद्या तृष्णा को जन्म देती है जिससे संसार में आसक्ति पैदा होती है और भवचक्र चलता रहता है। अविद्या निवृत्ति से अपरोक्षानुभूति द्वारा दुख का आत्यंतिक निरोध हो जाता है। यही निर्वाण है।

कबीर माया को भ्रम तथा सांसारिक आसक्ति—दोनों रूपों में लेते हैं। कबीर मानते हैं कि मनुष्य माया द्वारा पैदा किए गए मोह में अंधे हो जाते है अर्थात वे भ्रमित हो जाते हैं। जो इस भ्रम में पड़कर सोए रहते हैं अर्थात अज्ञान में डूबे रहते है वे ठगे जाते हैं:

कबीर माया मोह की, भई अँधारी लोइ।
जे सूते ते मुसि लिये, रहे बसत कूँ रोइ।।

यद्यपि बुद्ध अनात्मवादी थे और कबीर आत्मवादी, फिर भी बौद्ध दर्शन की अविद्या से कबीर की माया संबंधी धारणा मिलती जुलती है। बौद्ध दर्शन में जिस प्रकार यह माना गया है कि अविद्या जनित तृष्णा से सांसारिक चक्र (भवचक्र) चलता रहता है, और यह संसार दुखमय है। कबीर भी मानते है कि माया ऐसी घानी (जिसमें सरसों आदि डालकर तेल निकाला जाता है) है जिसमें समस्त संसार पड़ा हुआ है :

कबीर माया मोहनी, सब जग घाल्या धाँगि।

वे माया जनित इस संसार को दुःखमय भी मानते हैं :

माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीको तनि ताप।।

शंकराचार्य के अद्वैत में माया की विस्तृत व्याख्या की गई है। माया ब्रह्म की शक्ति है। जगत प्रपंच का निर्माण माया द्वारा ही होता है। आप यह जान चुके हैं कि मायोपाधिक ब्रह्म ही ईश्वर है जो जगत का निर्माण करता है। माया 'अविद्या' इस कारण है कि वह ज्ञान को बाधित करता है। माया को 'अभ्यास' भी कहा गया है अर्थात वह मिथ्या ज्ञान (भ्रम) पैदा करता है। 'आवरण' और 'विक्षेप' माया की दो शक्तियाँ हैं। आवरण शक्ति से वह वास्तविकता पर परदा डाल देती है तथा विक्षेप से अन्य वस्तु की प्रतीति कराती है।

शंकराचार्य के अद्वैतवाद को अस्वीकार कर विशिष्टाद्वैतवाद के प्रतिपादक रामानुजाचार्य माया के संबंध में शंकराचार्य से भिन्न मत रखते हैं। वे इसे ईश्वर अथवा ब्रह्म की वास्तविक और सर्जनात्मक शक्ति मानते हैं। वे इस जगत को भी वास्तविक (मिथ्या नहीं) मानते हैं

कबीर की माया की परिकल्पना रामानुजाचार्य की बजाए शंकराचार्य के निकट है। शंकर के 'शारीरक भाष्य' में माया को 'त्रिगुणात्मिका' माना गया है। कबीर भी माया को त्रिगुणात्मक मानते हैं :

माया महा ठगिनि हम जानी।
तिरगुन फाँसि लिये कर डोलै, बोलै मधुरी बानी।।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

शंकराचार्य ने जिस प्रकार माया को 'अविद्या' तथा 'अभ्यास' कहा है, उसके आवरण और 'विक्षेप' शक्ति की भी आलोचना की है। कबीर उस तरह से तत्व चिंतन की सूक्ष्मताओं में नहीं जाते लेकिन उसके भ्रामक रूप से सहमत प्रतीत होते हैं। वे उसे बार बार 'मोहनी', 'पापणी' कहकर संबोधित करते हैं। कबीर भी माया को ब्रह्म की शक्ति के रूप में देखते है :

तू माया रघुनाथ की, खेलड़ चढ़ी अहेड़े।

कबीर के माया संबंधी चिंतन की विशिष्टता यह है कि एक साधक की साधना में मोह, तृष्णा, अहंकार आदि जनित जो भी बाधाएँ आती हैं उसके समुच्चय को वे माया के रूप में देखते हैं। उनके माया संबंधी चिंतन की विशिष्टता को रेखांकित करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है, ''शंकर और कबीर के मायावाद में सबसे बड़ा अंतर यही है कि शंकर की माया केवल भ्रममूलक है। उससे रस्सी में साँप का या सीप में रजत का या मृगजल में जल का भ्रम हो सकता है। यह नाम–रूपात्मक संसार असत्य होकर भी सत्य भासित होता है, किंतु कबीर ने इस भ्रम की भावना के अतिरिक्त माया को छद्मवेशी कामिनी का रूप दिया है जो संसार को अपनी ओर आकर्षित कर वासना के मार्ग पर ले जाती है''। कबीर माया के प्रभाव को व्यापक मानते हैं जिससे शायद ही कोई बच पाता है :

माया दीपक नर पतंग, भ्रमि भ्रमि इवै पड़ंत।
कहै कबीर गुर गयान थैं, एक आध उबरंत।।

कबीर माया को संसाररूपी बाड़ में ऐसे बेल के रूप में देखते हैं जो विविध लालसाओं में फँसा देती है। जो एकबार इससे फँस जाता है वह निकल नहीं पाता :

बाड़ि चढ़ती बेलि ज्यूँ, उलझी, आसा फंध।
तूटै पणि छूटै नहीं, भई ज बाचा बंध।।

कबीर अपने पदों और साखियों में बार बार माया के बंधन से बचने को आगाह करते हैं कबीर की माया ब्रह्म की दासी है लेकिन साधक को साधना के मार्ग से विचलित करने वाली है।

कबीर भारतीय दर्शन परंपरा की माया संबंधी कई मान्यताओं से सहमति रखते हुए इसे साधना के व्यावहारिक तल पर परखते हैं तथा उसकी नकारात्मक भूमिका को रेखांकित करते हुए उससे बचने की सलाह देते हैं।

6.4 जगत की निस्सारता

भौतिक जगत को निस्सार मानने की परंपरा भारतीय दर्शन में प्रारंभ से मौजूद रही है। दर्शन में इस भौतिक जगत अर्थात इहलोक के साथ परलोक की परिकल्पना की गई है। धर्म ग्रंथों में ऐसा माना गया है कि मनुष्य के शुभ-अशुभ कर्मों का हिसाब परलोक में होता है और तदनुसार विभिन्न योनियों में उसका पुनर्जन्म होता है तथा यह चक्र चलता रहता है। जन्म –मरण अथवा आवागमन के इस चक्र से मुक्ति को मनुष्य का ध्येय बताया गया है। आवागमन के इस चक्र से मुक्ति ज्ञान अथवा भक्ति अथवा दोनों के समन्वय से संभव है। भारतीय दर्शन में बौद्ध आदि कुछ ऐसे संप्रदाय भी हैं, जो अनीश्वरवादी हैं, लेकिन पुनर्जन्म की परिकल्पना उनके यहाँ भी है। वहाँ यह माना गया है कि अविद्या और कर्मसंस्कार के कारण पुनः नया जन्म होता है और यह चक्र चलता रहता है। इस चक्र से मुक्ति के लिए अर्थात निर्वाण के लिए अविद्याजन्य तृष्णा अर्थात सांसारिक आसक्ति को त्यागने की बात कही गई है।

शंकराचार्य ने इस जगत को माया के कारण उत्पन्न होने तथा माया को एक प्रकार के भ्रम होने तथा इसे त्यागने की बात कही है। रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत में जगत को विकारयुक्त माना गया है।

इस प्रकार जागतिक भौतिकता अथवा प्रपंचों को भारतीय दर्शन में कभी भी वरेण्य नहीं माना गया है। कबीर के दर्शन में जागतिक असक्ति की निरंतर निंदा की गई है। वे शंकराचार्य के समान इस जगत को माया से युक्त मानते हैं। उनका मानना है कि माया की व्याप्ति चारों ओर है। उसी से सभी लोग बंधे है। संसार के सारे संबंध माया जनित हैं। सांसारिक व्यक्तियों से माया त्यागी नहीं जाती, वह इसी में फँसा रहता है जिस कारण ब्रह्मज्ञान से वंचित रह जाता है:

माया तजूँ तजी नहीं जाइ, फिर फिर माया मोहि लपटाइ।। टेक।।
माया आदर माया मान, माया नहीं तहाँ ब्रह्म गियाँन।।
माया रस माया कर जाँन, माया कारनि ततै परान।।
माया जप तप माया जोग, माया बाँधे सबही लोग ।
माया जल थलि माया आकासू, माया व्यापि रही चहुँ लोग।।
माया मारि करै व्यौहार, कहै कबीर मेरे राम आधार।।

कबीर इस जगत के समस्त व्यवहार को माया अर्थात् भ्रम मानने के साथ ही इससे जुड़ें हर संबंध तथा कार्य-व्यापार को ब्रह्म प्राप्ति के राह में बाधक मानते हैं। चूँकि कबीर का एकल लक्ष्य ब्रह्म का साक्षात्कार है अतः वे सारी क्रियाएँ, वस्तु अथवा व्यवहार जो ब्रह्म के साक्षात्कार में बाधक है, वह सब निस्सार है। इसलिए वे स्वयं को तथा साधक को सांसारिक कर्मों से मर जाने अर्थात उससे विरक्त हो जाने की सलाह देते हैं। ऐसे मरने को वो मीठा मानते हैं। वे जगत से जुड़े अहं, मान, प्रपंच को मारकर राम में रम जाने की सलाह देते हैं और ऐसा मरण जिसमें व्यक्ति जागतिक प्रपंचों से विरक्त होकर राम से अनुरक्त हो जाता है उसे 'अबिनासी' होना बताते हैं :

जे कौं मरै मरन है मींठा
गुर प्रसादि जिंनहीं मरिं ढीठा।। टेक।।
मूवा करता मुई ज करनीं, मुई मारि सुरति बहु धरनीं।
मूवा आपा मूवा मांन, परपंच लेइ मूवा अभिमान।।
रांम रमें रमि जे जन मूवा, कहे कबीर अबिनासी हूवा।।

कबीर के दर्शन में, उनकी साधना में, ईश्वर के प्रति एकनिष्ठ प्रेम और समर्पण के अतिरिक्त किसी अन्य को कोई जगह प्राप्त नहीं है। इस कारण उनसे पूर्व की दर्शन पद्धतियों में जगत की निस्सारता को दिखाने के लिए जिन तत्वों को इंगित किया गया है वे सारी चीजें कबीर में है। आप शंकराचार्य के समान जगत को माया मानने के कबीर के मत के बारे में जाने चुके हैं। बुद्ध ने इस संसार को दुखमय तथा क्षणभंगुर बताया है। कबीर भी इस संसार के दुखमय तथा क्षणभंगुर होने की बात को बार-बार दुहराते हैं। कबीर ने 'चितावाणी को अंग' (श्यामसुंदर दास द्वारा संपादित कबीर ग्रंथावली में कबीर के साखियों को 59 विभिन्न अंगों में बाँटा गया है) में इस संसार की तुलना टेसू के फूल, सेमल के फूल, कच्चे कुंभ आदि से किया है तथा मृत्यु को अवश्यंभावी कहा है। वे जीवन को अल्पकालिक मानते हैं तथा इस अल्पकालिक जीवन की खुशी, आनंद के तमाम आयोजनों को व्यर्थ मानते हैं। उनका मानना है कि जो जीवन के ताम–झाम में पूर्णतः संलिप्त है अथवा जो इससे वंचित है, सबकी एक ही गति होनी है:

कबीर थोड़ा जीवणा माडे बहुत मँडान।
सबही उभा-मेल्हि गया, राव रंक सुलितान।।

वे इस जीवन की तुलना पलाश के पेड़ से करते हैं, जिस पर कुछ दिनों के लिए फूल रहता है और वह सौंदर्य से भर जाता है। फूल के झर जाने के बाद वह ठूँठ की तरह रह जाता है। यही गति जीवन में की गई आशाओं और उम्मीदों की होती है। इसी तरह वे इस जगत के संबंध और लगावों की तुलना सेमल के फूल से करते हैं जिसे कुछ दिन के बाद वैसे ही खत्म हो जाना है जैसे सेमल के फूल का आकर्षण कुछ दिनों के बात खत्म हो जाता है :

> यहु ऐसा संसार है जैसा सैमल फूल।
> दस दिन के व्योहार को, झूठै रंगि न भूल।।

कबीर अपने एक पद (सबद) में मानव शरीर की क्षणभंगुरता तथा उसके नाशवान होने के तथ्य को सामने रखते हैं। वे इसकी तुलना 'कागद' की गुड़िया से करते हैं तथा 'कागद' की गुड़िया के समान इसके अस्तित्व को सीमित समय का मानते हैं। जब तक साँस है तभी तक शरीर का अस्तित्व है। ज्यों ही यह खत्म हो जाता है इस संसार के मोह में फँसा व्यक्ति इस स्थिति पर विलाप करने लगता है। कबीर परमात्मा के भजन की सलाह देते हैं अन्यथा यह व्यर्थ की खींचतान अर्थात् जीवन मरण का चक्र, मोह-भ्रमजनित झूठा सुख और अंततः मृत्यु की करुण पीड़ा से छुटकारा नहीं मिलेगा :

> बिनसि जाइ कागद की गुड़िया,
> जब लग पवन तबै लग उड़िया।।
> गुड़िया कौ सबद अनाहद बोलै, खसम लियै कर डोरी डोलै।
> पवन थक्यो गुड़िया ठहरानी, सीस धुनै धुनि रोवै प्राँनी।
> कहै कबीर भजि साँरगपानी, नाहीं तर ह्वै हैं खैंचा तानी।।

कबीर इस संसार को दुखमय मानते हैं। इस संसार का वर्णन ऐसे दुख के बर्तन के रूप में करते हैं जो विषय-वासनाओं के, लालसाओं के भूख से लबालब भरा हुआ है। लालसा का कभी अंत नहीं होता। इस कारण संसार में अतृप्ति बनी रहती है और इस दुख का कभी अंत नहीं होता। कबीर इस दुख का कारण राम और अल्लाह की दया के न होने को मानते है :

> दुनियाँ भाँडा दुख का, भरीं मुँहामुँह भूष।
> अदया अलह राम की, कुरलै ऊँणी कूष।।

कबीर के जगत की जो परिकल्पना है उसके अनुसार मृत्यु, विछोह, ऐश्वर्य का अंत वास्तविक सत्य हैं। सुख तथा जागतिक संबंध एक किस्म का भ्रम है। काल कौ अंग में वे इस संसार को काल का चबेना अर्थात भोजन मानते हैं। वे जोर देकर कहते हैं कि इस संसार का कुछ अंश काल के मुख में है और कुछ गोद में अर्थात कुछ तत्व विनष्ट होने की प्रक्रिया में है और जो अभी इस प्रक्रिया में नहीं है उसकी भी अंतिम परिणति यही होनी है :

> झूठे सुख को सुख कहै, मानत है मद मोद।
> खलक चबीणां काल का, कुछ मुख मैं कुछ गोद।।

कबीर काल की क्रूर नियति को रेखांकित करते हुए जगत की अनिश्चितता की ओर भी ध्यान आकर्षित करते हैं। वे मनुष्य द्वारा भविष्य सुंदर बनाने के प्रयास को व्यर्थ मानते हैं क्योंकि जैसे बाज अचानक झपट्टा मारकर तीतर को मार डालता है उसी प्रकार काल कभी भी मनुष्य को खत्म कर सकता है :

> कबीर पल की सुधि नहीं, करै काल्हि का साज।
> काल अच्यंता झड़पसी, ज्यूँ तीतर को बाज।।

कबीर इस संसार की निस्सारता को स्थापित करने के लिए मनुष्य को बार-बार उसकी अवश्यभावी मृत्यु की याद दिलाते हैं। वे कहते हैं कि बारी-बारी से इस संसार से सभी को जाना है। वे मनुष्य को आगाह करते हैं कि प्रतिदिन मृत्यु निकट आ रही है। उनके अनुसार जो उदित हुआ है, वह अस्त भी होगा। जो फूल खिला है वह कुम्हला जाएगा। जिसका निर्माण किया गया है वह ध्वस्त भी होगा। वे वस्त्र की उपमा देते हुए कहते हैं कि जो वस्त्र हम पहनते हैं उसका एक दिन फट जाना निश्चित है। उसी तरह जीवन के बाद मरण आवश्यक है। वे इस जगत की अनिश्चितता की ओर ध्यान आकर्षित करते हैं कि इस जगत में कुछ भी स्थायी नहीं है। जो एक क्षण में मीठा है, वही अगले क्षण खारा है। अर्थात संबंधगत अनुभूतियाँ, सुख-दुख का क्रम बदलता रहता है। कल जो व्यक्ति अपने को सजा रहा होता है वही आज श्मशान पहुँच जाता है। कबीर शरीर और आत्मा के संबंध को दर्शाने के लिए लुहार की भट्ठी की उपमा देते हैं :

> धवणि धवंती रहि गई, बुझि गए अंगार।
> अहरणि रह्या ठमूकड़ा, जब उठि चले लुहार।।

अर्थात लुहार के चले जाने पर अंगार बुझ जाता है, उसी प्रकार आत्मा के चले जाने पर शरीर व्यर्थ हो जाता है।

कबीर मृत्यु की ओर बार–बार इशारा कर, उसे अवश्यंभावी बताकर मनुष्य को सांसारिक वैभव पर अहंकार न करने की सलाह देते हैं। वे इस शरीर पर गर्व नहीं करने की बात कहते हैं क्योंकि जो व्यक्ति घोड़े पर चढ़कर छत्र लगाकर चलता है उसके शरीर को भी एक दिन कब्र में जाना पड़ता है :

> कबीर कहा गरबियौ, चाँम लपेटे हड।
> हैबर ऊपरि छत सिरि, ते भी देबा खड।।

मृत्यु अवश्यंभावी बताने के साथ ही मृत्यु के बाद शरीर के साथ होने वाले व्यवहार की ओर आकृष्ट कर भी कबीर इस संसार की निस्सारता को स्थापित करते हैं :

> हाड़ जलै ज्यूँ लाकड़ी, केस जलै ज्यूँ घास।
> सब तन जलता देखि करि, भया कबीर उदास।।

इस प्रकार कबीर इस जगत को माया का व्यापार बताते हुए एक प्रकार का भ्रम कहते हैं। जगत के संबंधों को झूठ, दुनिया के दुखमय होने, उसके क्षणभंगुर होने, सुख के अस्थायी होने, काल की गति क्रूर होने तथा अंततः मृत्यु के बाद सब व्यर्थ होने की सांसारिक वस्तु-स्थिति की ओर इशारा करते हुए जगत की निस्सारता को स्थापित करते हैं।

6.5 जीवन आधारित दर्शन

यद्यपि कबीर ने जगत की निस्सारता को बहुत जोर देकर स्थापित किया है तथा तमाम जागतिक संबंधों को एक तरह का भ्रम कहा है, इसके बावजूद अगर उनके दर्शन का निरीक्षण सूक्ष्मता से करें तो वहाँ एक जीवन आधारित दृष्टिकोण मिलता है। इस संदर्भ में हमें कबीर के देश-काल की सीमा को ध्यान में रखकर ही विचार करना चाहिए। कबीर का समय मध्यकालीन युग था, जिसमें आधुनिक दृष्टिकोण अथवा भौतिकवादी जीवन-दृष्टि का विकास नहीं हुआ था। कर्मफलवाद, ईश्वरोन्मुखता उस युग की जीवन-दृष्टि का केंद्रीय तत्व था। कबीर का संघर्ष मुख्य रूप से साधना के अधिकार का संघर्ष था, जिसे कुछ खास लोगों के लिए संरक्षित कर दिया गया था। जाति, शिक्षा आदि की बाधाएँ थीं।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

कबीर ने इस जकड़न को तोड़ दिया। मनुष्य ने जैसा जीवन पाया है उसी के अंदर परमतत्व का साक्षात्कार संभव है कबीर ने अपने देश-काल में इस भाव भूमि का निर्माण किया। कबीर के दर्शन को जीवन आधारित इसी अर्थ में समझा जाना चाहिए।

कबीर से पहले शिक्षा पाने, ज्ञान अर्जित करने का अधिकार समाज में कुलीनों तथा कथित उच्च जातियों तक सीमित था। हिंदुओं में ब्राह्मण तथा मुसलमानों में मुल्ला-काजी ज्ञान के अधिकारी और व्याख्याता बने हुए थे। कबीर ने इस वर्चस्व को तोड़ते हुए अपनी तथा कथित निम्न जाति के बावजूद अपने को ज्ञान का अधिकारी घोषित किया :

तू ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हिं न मोर गियाना।
तैं सब माँग भूपति राजा, मोरे राम धियाना।।

कबीर के समय में ज्ञान का माध्यम वेद, पुराण, कुरान आदि ग्रंथ थे। कबीर ने पुस्तकीय ज्ञान की अनिवार्यता को अस्वीकार किया। उनके अनुसार प्रभु को प्रेम के द्वारा पाया जा सकता है न कि वेद-पुराण पढ़कर :

चारिउ वेद पढ़ाइ करि, हरि सूँ न लाया हेत।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढै खेत।।

कबीर ने ज्ञान प्राप्ति के लिए पुस्तक की बजाए गुरु को ज्यादा महत्व दिया। कबीर ने जिस जीवन-दर्शन को विकसित किया उसमें परम ब्रह्म के साक्षात्कार के लिए ज्ञान चक्षु को खोलने वाला गुरु ही है :

सतगुर की महिमा अनँत, अनँत किया उपकार।
लोचन अनँत, उघाड़िया, अनँत दिखाबनहार।।

कबीर जन्म के आधार पर ऊँच-नीच के सामाजिक पद-क्रम को स्वीकार नहीं करते । न ही उसे महिमामंडन के योग्य मानते हैं। उनका कहना है कि कोई ऊँचे कुल में जन्म लेकर नीचा कर्म करता है तो वह उसी प्रकार निंदा के योग्य होगा जैसे स्वर्ण कलश में मदिरा भरा हो तो साधु उसकी निंदा ही करेंगे :

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जो करणी ऊँच न होइ।
सोवन कलस सुरे भर्‌या, साधु निंद्या सोइ।

कबीर के समय में सभी धर्मों में कर्मकांड की प्रधानता थी। हिंदू और मुसलमान के अपने कर्मकांड तो थे ही, ब्राह्मण धर्म की आलोचना करने वाले सिद्धों में भी पंचमकार युक्त एक भोगपरक साधना पद्धति विकसित हुई। उसके उलट नाथों में कठिन योग पद्धति का विकास हुआ। लेकिन यह पद्धति प्रेम-भक्ति से रहित थी। कबीर ने साधना की ऐसी पद्धति विकसित की जिसमें भक्ति, प्रेम और योग का समन्वय था। कर्मकांड की कोई आवश्यकता नहीं थी। जगत की निस्सारता पर जो जोर दिया गया था उसका अभिप्राय ही यह था कि व्यक्ति विषय-वासना में ही उलझा नहीं रह जाए। कबीर ने आचरण की शुद्धता पर बल दिया। ईश्वर प्राप्ति के लिए उन्होंने सच्चे हृदय की वकालत की । अगर व्यक्ति हृदय का सच्चा नहीं हैं तो हज करने और काबा जाने से कोई लाभ नहीं है :

सेष सबूरी बाहिरा, क्या हज काबै जाइ।।
जिनकी दिल स्याबति नहीं, तिनकौ कहाँ खुदाइ।।

कबीर ईश्वर प्राप्ति के लिए गृह-त्याग अथवा सन्यास लेना भी आवश्यक नहीं मानते हैं। उन्होंने प्रेम, योग और भक्ति के समन्वय वाले जिस मार्ग की वकालत की उसका अनुसरण घर में रहते हुए भी संभव है :

अवधू, भूले को धर लावै। सो जन हमको भावै।।
घर में जोग भोग घर ही में, घर तज बन नहिं जावै।
घर में जुक्तु मुक्त घर ही में, जो गुरु अलख लखावै।।

इस प्रकार आपने देखा कि कबीर अपने दर्शन को जीवन से जोड़ते हैं। अंतिम उद्देश्य उनके यहाँ परमतत्व की प्राप्ति अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार ही है, पर इसे उन्होंने सामान्य जीवन के साथ ही संभव किया। यह विचारधारा आम जनता के करीब थी और उन्हें इस बात से संबल मिला कि ईश्वर प्राप्ति के लिये वैराग्य या संन्यास धारण करना आवश्यक नहीं है, दिनानुदिन का कार्य करते हुए भी परम तत्व की प्राप्ति की जा सकती है।

6.6 कबीर के ब्रह्म—कबीर के राम

कबीर ने अपने आराध्य को राम कहकर संबोधित किया है लेकिन उन्होंने अपने राम की अवतारी राम से पृथकता की घोषणा की है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उनके राम दशरथ पुत्र नहीं हैं।

परंपरा से प्रसिद्ध है कि कबीर को रामनाम का मंत्र गुरु रामानंद से मिला, परंतु राम को उन्होंने उसी रूप में स्वीकार नहीं किया जिस प्रकार वह रामानंद के संप्रदाय में स्वीकृत था। वहाँ राम विष्णु के अवतार हैं। कबीर ने अपने राम को सगुण न मानकर निर्गुण ब्रह्म के रूप में स्वीकारा। वे ऐसे राम की आराधना करने को कहते हैं जो निर्गुण हैं। वे अगम्य और अव्यक्त हैं, उसकी गति अर्थात आवागमन के बारे में कुछ नहीं कहा जा सकता है। चारों वेद, समस्त पुराण और नौ व्याकरण उसके मर्म को नहीं जान सके अर्थात इन ग्रंथों में जिस प्रकार से ब्रह्म का वर्णन है उसके आधार पर भी उस निर्गुण ब्रह्म के स्वरूप को नहीं जाना सा सकता। शेषनाग और गरुड़ उसके रहस्यों का वर्णन नहीं कर सकते। नित्य उनके चरणों में रहने वाली लक्ष्मी भी उन्हें नहीं जान सकी। कबीर के अनुसार निर्गुण राम के भेद को कोई जान सकता, सिर्फ उनके भक्त ही उसका अनुमान लगा सकते हैं। (संदर्भ—पद संख्या—49, राग गौड़ी, कबीर ग्रंथावली, संपादक—श्यामसुंदर दास)

कबीर अपने राम को अवतारों से पृथक करते हुए कहते हैं कि जिसके मनुष्य के समान तन है, जिसमें विषय-वासना है उसे तीनों लोकों का स्वामी कैसे कहूँ? वे मनुष्य से उस निराकार की वंदना करने को कहते हैं जो सभी रसों में जल के समान व्याप्त है। अर्थात जो समस्त संसार में व्याप्त है :

सो मन सो तन सो विषै, सो त्रिभवन पति कहूँ कस।
कहै कबीर ब्यंदहु नरा, ज्यूँ जल पूर्‌या सकल रस।।

सगुण भक्ति परंपरा में अवतारों का निश्चित समय मान्य है, जैसे त्रेता युग में राम का अवतरण, द्वापर में कृष्ण का अवतरण। लेकिन कबीर अपने राम को इस आवागमन की प्रक्रिया से मुक्त मानते हैं। वे उस ब्रह्म की आराधना करते हैं जो अनादि काल से मौजूद है। कबीर सगुण परंपरा के अवतार, उनसे जुड़े तीर्थ स्थान आदि को स्वीकार नहीं करते है। उनके अनुसार कुछ लोग इसी में उलझे रहते है और उस निर्गुण राम के मर्म को नहीं जान पाते हैं। वह जिसके ज्योति से समस्त संसार प्रकाशवान है, जब सूर्य, पवन, पानी, विद्या, ज्ञान, संप्रदाय, गुरु, शिष्य आदि कुछ भी नहीं था तब वह एकमात्र था। उसके रहस्य को कोई बिरला ही जान पाता है :

केऊ केऊ तीरथ ब्रत लपटानां, केउ केउ केवल राम निज जाना।।
अजरा अमर एक अस्थाना, ताका मरम काहू बिरलै जाना।।

THE PEOPLE'S UNIVERSITY

अबरन जोति सकल उजियारा, द्रिष्टि समान दास निस्तारा।।
जो नहीं उपज्या धरनि सरीरा, ताकै पथि न सीच्या नीरा
जो नहीं लगे सूरजि बाना, सो मोहि आंनि देहु के दाना।।
जब नहीं होते पवन नहीं पानी, तब नहीं होंती सिष्टी उपानी।।
जब नहीं होते प्यंड नहीं वासा, तब नहीं होते धरती अकासा।
जब नहीं होते गरभ न मूला, तब नहीं होते कली न फूला।
जब नहीं होते सवद न स्वाद, तब नहीं होते विद्या न वाद।
जब नहीं होते गुरु न चेला, तब गम अगमै पंथ अकेला।।

('अष्टपदी रमैनी' से)

कबीर अपने ब्रह्म की उपस्थिति अनादि काल से मानने के साथ ही उसके स्वरूप का संकेत देने में अपने को असमर्थ बताते हैं। 'जर्णा को अंग' में वे कहते हैं कि अगर उसे भारी कहूँ तो यह डर का कारण बनता है। हल्का कह दूँ यह झूठ होगा। मैं राम के संदर्भ में क्या कहूँ? मैनें उसे कभी देखा नहीं है। अगली ही साखी में वे कहते हैं कि अगर मैंने देख भी लिया है तो भी कैसे कहूँ क्योंकि मेरे देखे—कहे पर कौन विश्वास करेगा। इसलिए वे ब्रह्म के रूप को 'जैसा है तैसा रहो' कहते हुए उसके गुणगान में, उसकी भक्ति में अपने को प्रवृत्त करते हैं।

'राग गौड़ी' के एक पद में भी वे ब्रह्म के स्वरूप को अनिर्वचनीय मानते हुए कहते हैं कि वह जैसा है उसे कोई नहीं जान सकता। लोग जो भी वर्णन करते हैं वह झूठा है, अन्यथा है। चारों वेदों में जो मत हैं, वे भ्रामक हैं। वेद-स्मृतियों पर लोग भरोसा करके बैठे गए हैं। ब्रह्मादिक सनकादिक आदि जब उनका भेद न जान सके तो मैं क्या कहूँ :

जस तूँ तस तोहि कोइ न जान, लोग कहै सब आनहिं आँन।
चारि बेद चहुँ मत का बिचार, इहि भ्रँमि भूलि पर्‌यो संसार।
सुरति सुमृति दोइ कौ विसवास, बाझि पर्‌यौ सब आस पास।।
ब्रह्मादिक सनकादिक सुर नर, मैं बपुरो धूँका मैं का कर।
जिहि तुम्ह तारौ सोई पै तिरई, कहै कबीर नाँतर बाँध्यौ मरई।।

कबीर ब्रह्म के स्वरूप की अनिर्वचनीयता को बार-बार दुहराने के साथ ही इस बात में सतर्क दिखाई देते हैं कि जिन चीजों का भौतिक अस्तित्व है, उसके सदृश ब्रह्म की परिकल्पना नहीं की जाए। अपनी साखियों में उसे जीव से ही पृथक नहीं बतलाते बल्कि उसे इंद्रीयगम्यता से परे भी बताते हैं। 'पीव पिछाँणन कौ अंग' में उन्होंने ब्रह्म के स्वरूप के संदर्भ में कहा है :

जाकै मह माथा नहीं, नहीं रूपक रूप।
पुहुप बास थैं पतला, ऐसा तत अनूप।।

'मन कौ अंग' में भी ब्रह्म के स्वरूप को सांसारिक वस्तु के गुण-धर्म परे बतलाया है :

पाणीं हीं तैं पातला, धूंवा ही तै झीण।
पवनां बेगि उतावला, सो दोस्त कबीरे कीन्ह।।

अवतारवादी परंपरा में भी ईश्वर की सर्वव्याप्ति को दर्शाया गया है। कृष्ण से संबंधित मिथकों में इस बात की चर्चा आती है कि अलग-अलग सभी गोपियों को कृष्ण अपने साथ-महसूस होते थे। गीता में कृष्ण अपने भौतिक रूप का अतिक्रमण करते हुए अर्जुन को बताते हैं कि वे ही सभी जीवों में मौजूद हैं। लेकिन इन विशिष्ट अवसरों के परे अवतारों की परिकल्पना में ईश्वर की उपस्थिति किसी खास देश-काल में बताई गई है।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

वे उसी देश-काल में अपनी लीला करते हैं। कबीर ने अपने ब्रह्म की उपस्थिति को किसी भी भौतिक सीमा से परे बतलाया है। 'साध साषीभूत कौ अंग' में वे कहते हैं कि मेरा स्वामी अर्थात मेरा ईश्वर सभी के हृदय में मौजूद है, कोई भी हृदय रूपी सेज उनकी उपस्थिति से सूनी नहीं है :

> सब घटि मेरा साँइयाँ, सूनी सेज न कोई।
> भाग तिन्हौ का हे सखी, जिहि घटि परगड होइ।।

'कस्तूरियाँ मृग कौ अंग' में कबीर ने अपने ब्रह्म की सर्वव्याप्ति को बार-बार दुहराया है। उसे विभिन्न उपमानों से पुष्ट किया है। वे कहते हैं परमब्रह्म तन के अंदर बसा हुआ है, लेकिन अपने भ्रम अर्थात अज्ञानता के कारण हम उसे जान नहीं पाते। यह उसी प्रकार की स्थिति है जैसे कस्तूरी हिरण की नाभि में रहता है, लेकिन वह उसे पाने के लिए घास सूँघता फिरता है। ब्रह्म कहीं ज्यादा अथवा कम नहीं है वह हर जगह अपनी पूर्णता के साथ है। जो उसको जान पाता है उसके लिए पास है, अन्यथा वह दूर है। कबीर ईश्वर की उपस्थिति को नैन में पुतली के सदृश्य बतलाते हैं:

> ज्यूँ नैनूँ मैं पूतली, त्यूँ खालिक घट माँहि।
> मूरखि लोग न जाँणहिं, बाहरि ढूँढण जाँहि।।

वे विभिन्न धार्मिक पंथों द्वारा अपने आराध्य को विशिष्ट नाम-रूप में इंगित करने की जगह उसकी सर्वव्याप्तता पर ही जोर देते हैं :

> जोगी गोरख गोरख करै, हिंदू राम नाम उच्चरै।
> मुसलमान कहै एक खुदाइ, कबिरा को स्वामी घटि घटि रह्यौ समाइ।।

कबीर ब्रह्म की सर्वव्याप्ति की बात करते हुए उसके एकत्व पर भी जोर देते हैं। विभिन्न धार्मिक मतों में जो पृथकतावादी अथवा निज-विशिष्टतावादी दृष्टिकोण हैं उसे कबीर स्वीकार नहीं करते। 'माधि को अंग' में वे मुसलमानों के काबा तथा हिंदुओं के काशी के बीच कोई भेद नहीं करते। इन दोनों में जो अंतर है वह बाहरी स्तर पर है जैसे मोटे आँटे में रहता है, वही जब और महीन होकर मैदा हो जाता है तब कोई अंतर नहीं रहता :

> काबा फिर कासी भया, राँम भया रहीम।
> मोट चून मैदा भया, बैठि कबीरा जीम।।

कबीर कहते हैं हिंदू राम की और मुसलमान खुदा की श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए मर-मिटते हैं। यह मर मिटना एक किस्म की आत्मिक मौत है। कबीर आत्मिक स्तर पर उसे जीवित मानते हैं जो इस प्रकार की श्रेष्ठता-स्थापना की संकीर्णता में नहीं पड़ता :

> हिंदू मूये राम कहि, मुसलमान खुदाइ।
> कहै कबीर सो जीवतत, दुइ मैं कदे न जाइ।।

कबीर अपने एक पद में परमात्मा के एकत्व पर जोर देते हुए कहते हैं कि ब्रह्म के स्वरूप में दो का भेद कहाँ है? अगर वह दो है तो उसने अलग-अलग पृथ्वी का निर्माण क्यों नहीं किया? हिंदू और मुसलमान, एक माला जपता है दूसरा तसबी फिर भी उसे ज्ञान प्राप्त नहीं होता। कबीर कहते हैं कि सबके अंदर वाणी का सृजन करने वाला हिंदू और मुसलमान के भेद से परे है :

> आरे भाई दोइ कहा सो मोहि बतायौ, बिचिही भरम का भेद लगावौ।। टेक।।
> जोनि उपाइ रची द्वै धरनीं, दीन एक बीच भई करनी।।

रॉंम रहीम जपत सुधि गई, उनि माला उनि तसबी लई।।
कहे कबीर चेतहु रे भौंदू, बोलनहारा तुरक न हिंदू।।

आप यह जान चुके हैं कि कबीर ने इस जगत को दुखमय बतलाया है। वे सुख का कारक सिर्फ राम को मानते हैं :

कबीर सब सुख राम है, और दुखाँ की शासि।
सुर नर मुनियर असुर सब, पड़े काल की पासि।।

कबीर इस संसार में केवल राम नाम को ही सारतत्व के रूप में पाते हैं उनके लिए जगत के और सभी व्यापार मिथ्या है। वे सांसारिक भौतिकता और राम नाम को एक साथ नीर-क्षीर के रूप में देखते हैं :

खीर रूप हरि नाव है, नीर आन ब्यौहार।
हंस रूप कोई साध है, तत का जांनणहार।।

यद्यपि कबीर परमब्रह्म के सर्वव्याप्ति की बात करते हुए उसका निवास प्राणीमात्र के हृदय में बतलाते हैं। लेकिन जब वे मनुष्य के व्यवहार की बात करते है तब वे इस बात पर जोर देते हैं कि हर प्रकार के संशय अर्थात अविश्वास को मिटाकर प्रेम के द्वारा ही उसे पाया जा सकता है। जहाँ कहीं इसमें जरा भी दूरी की भावना रहती है वहाँ राम की उपस्थिति नहीं होती।

जिहि घट मैं संसौ बसै, तिहि घट राम न जोइ।
राम सनेही दास विचि, तिणाँ न संचर होइ।।

कबीर परमब्रह्म के स्वरूप के निर्धारण के क्रम में उसकी विराटता अथवा अपूर्व सौंदर्य की ओर भी संकेत करते हैं। उसके सौंदर्य की आभा को सौ सूर्य की रोशनी के समान बतलाते हैं –'कबीर तेज अंनत का, मानी ऊगी सूरज सेणि।' परमब्रह्म निर्गुण-निराकार है, फिर भी उसकी उपस्थिति से बिना सूर्य अथवा चंद्रमा के भी उजाला फैल जाता है :

कोतिग दीठा देह बिन, रबि ससि बिंना उजास।
साहिब सेवा मांहि है, बेपरवाही दास।।

6.7 सहज साधना

कबीर की साधना को सहज साधना कहा गया है। इस संदर्भ में यह प्रश्न उठता है कि कबीर की साधना में 'सहज' का क्या अभिप्राय है? क्योंकि स्वयं उन्होंने भक्ति के मार्ग को कठिन बताया हैं :

कबीरा मारिग कठिन है, कोइ न सकई जाइ।
गए तो बहुड़े नहीं, कुसल कहे को आई।।

इस मार्ग की कठिनाई, दुरूहता और अगम्यता पर जोर देते हुए वे कहते हैं कि यह मार्ग इतना दुर्गम है कि इस पर चींटी भी चढ़ नहीं सकती है। ईश्वर अथवा उस परमब्रह्म की प्राप्ति के लिए ऐसे मार्ग पर चलकर वहाँ तक जाना है जहाँ तक मन और पवन भी पहुँच नहीं सकता :

जहाँ न चींटी चढि सकै, राई न ठहराइ।
गन पवन का गमि नहीं, तहाँ पहुँचे जाई।।

इस कठिनाई के बावजूद कबीर की साधना अगर सहज है तो वह इस अर्थ में है कि उसमें तमाम किस्म के बाह्याचार, मध्यस्थता (मुल्ला, पंडित वगैरह) आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। सच्चे गुरु द्वारा बताए गए मार्ग पर चलकर इसे व्यक्तिगत प्रयास से सफल बनाया जा सकता है। इसमें भौतिक अकिंचनता बाधक नहीं है। लेकिन इस सहजता को प्राप्त करने की कुछ शर्तें भी है। 'सहज कौ अंग' की कुल चार साखियों में कबीर इसका कुछ संकेत देते हैं। वे कहते हैं कि 'सहज' का जिक्र हर कोई करता है, लेकिन इसे कोई पहचानता नहीं है। जिसने सहजता से विषय–वासना का त्याग कर दिया, पाँचों इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित कर लिया, जिसने संसार के इस नियम को जान लिया कि संपत्ति, पुत्र और स्त्री सभी को एक दिन नष्ट हो जाना है, वही सहज साधक है। सहज वही है जिसे सुगमता से प्रभु मिल जाए।

दरअसल इस पूरे संदर्भ को देखें तो कबीर की दर्शन प्रक्रिया में एक द्वंद्व दिखाई देता है कि ईश्वर की प्राप्ति सहज इसलिए है कि उसके लिए सभी प्रयास निजी स्तर के है। बाह्य परिस्थितियों की इसमें भूमिका नहीं है, लेकिन उसके लिए व्यक्तिगत स्तर पर जिस के त्याग और संकल्प की जरूरत है वह बहुत की है।

इस साधना-प्रक्रिया को कबीर निरंतर परिमार्जित करते हैं। इस यात्रा के लिए अनेक प्रकार के साधन जुटाने की सलाह देते हैं। ये साधन भौतिक साधन नहीं, बल्कि मानसिक और आध्यात्मिक हैं। इसके साथ ही उन तत्वों की ओर भी संकेत करते हैं जो या तो मिथ्या हैं अथवा खुद राह से भटक गए हैं। कबीर की साधना में ज्ञान, प्रेम और योग के समन्वय तथा गुरु के महत्व की केंद्रीय भूमिका है जिस पर आगे हम अलग से विचार करेगें । यहाँ कुछ अन्य तत्वों पर समन्वित रूप से प्रकाश डाला जा रहा है।

कबीर अपनी सहज साधना को तमाम किस्म के बाह्याचारों, ढोंग और कपट से अलग रखते हैं। वे ऐसा करते हुए हर धर्म के बाह्याचारों की निरर्थकता को सामने लाते हैं। वे पंडित के शास्त्रज्ञान की पिंजरे में बंद तोते की शिक्षा से तुलना करते हैं जो दूसरे को ज्ञान देता फिरता है, पर उसके मर्म को खुद नहीं समझता :

> चतुराई सूवै पढ़ी, सोई पंजर माँहि।
> फिरि प्रबोधै आन कौ, आपण समझे नाहिं।।

वे अल्पज्ञानी साधुओं को भी फटकारते हैं जो खुद राम नाम से अर्थात प्रभु की आराधना (भक्ति मार्ग से) कट गया है और शिष्यों की आशा करता है। अर्थात संप्रदाय के विस्तार में लगा रहता है :

> स्वामी हुआ सीतका, पैका कार पचास।
> राम नाम काँठै रह्या, करै सिषां की आस।।

कबीर पर नाथों एवं सिद्धों के प्रभाव को बार-बार रेखांकित किया गया है, लेकिन कबीर सिद्धों-नाथों से सकारात्मक तत्व ही ग्रहण करते हैं। उनमें भी जो बाह्याचार है, कबीर उसकी भी निंदा करते हैं। कबीर उनके बाह्याचार की निंदा करते हुए कहते हैं कि अगर नंगे फिरना जोग की पहचान है तो हिरण को मुक्ति मिल जाती। सिर मुड़ाने से सिद्धि मिलती तो भेड़ स्वर्ग पहुँच जाता। ज्ञान के कारण अगर अहंकार आ जाए तो मनुष्य इस भवसागर से पार नहीं पा सकता :

> का नाँगे का बाँधें चाम, जो नहीं चीन्हसि आतम राम।। टेक।।
> नागे फिरें जोग जे होई, बन का मृग मुकुति गया कोई।।
> मूँड़ मूड़ाये जौ सिधि होई, स्वर्ग ही भेड़ न पहुँची कोई।।
> ब्यंद रखि जे खेलै है भाई, तौ षुसरै कौंण परंम गति पाई।।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

पढे गुनें उपजै अहकारा, अधधर डूबे बार न पारा।।
कहै कबीर सुनहु रे भाई, राम नाम किन सेधि पाई।।

'सांच कों अंग' में वे काजियों के व्यवहार की निंदा करते हुए कहते हैं कि जो दूसरों को ज्ञान देता है खुद उसे नहीं समझता, उसका पालन नहीं करता। मस्जिद पर चढ़कर एक खुदा की बात करता है लेकिन स्वाद के लिए जीव हत्या करता है। तब क्या ब्रह्म दो हो जाते है :

कबीर काजी स्वादि बसि, ब्रह्म हतै तब दोई।
चढि मसीति एकै कहै, दरि क्यूँ साचा होई।।

कबीर कर्मफल के साथ-साथ परलोक की अवधारणा में विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि मृत्यु के बाद चित्रगुप्त कर्मों का हिसाब लेगा। इसलिए जब तक शरीर है राम नाम में मन लगाओ :

काइथि कागद काढियां, तब लेखै वार न पार।
जब लग सॉंस सरीर मैं, तब लग राम संभार।।

कबीर परलोक की चेतावनी देते हुए सहज साधना संबंधी तमाम हिदायत देते हैं। सबसे पहले वे भौतिक संपदा पर अहंकार नहीं करने की बात करते हैं। 'चितावणी कौ अंग' में वे कहते हैं कि जिनके दरवाजे पे हाथी झूमते थे, नौबत बजा करता था उनका भी जीवन प्रभु नाम के स्मरण के बिना व्यर्थ गया। मनुष्य जीवन के तमाम राग-रंग के एक दिन व्यर्थ हो जाने की स्थिति को वे मंदिर के प्रतीक से समझाते हैं :

सातो सबद जु बाजते, धारि धारि होते राग।
ते मंदिर खाली पड़े, बैसण लागे काग।।

इसीलिए कबीर मनुष्य को बार-बार अपनी वृत्तियों को अंतर्मुखी करने की सलाह देते हैं। वे योग साधना में उन्मन अवस्था की बार-बार बात करते हैं। यह ऐसी दशा है जिसमें मनुष्य संसार से विरक्त होकर अन्तर्मुखी प्रवृत्ति का हो जाता है। कबीर अपने उन्मनि दशा का बार-बार जिक्र करते हैं। उन्मनि अवस्था पाकर वह ब्रह्म से इस प्रकार एकाकार हो जाते हैं जैसे नमक पानी से। यहाँ संकेत यह है कि मनुष्य को अगर परम ब्रह्म का साक्षात्कार करना है तो उसे अपने को उन्मनि दशा में मोड़ना होगा। उन्मनि दशा में ही 'गँगन' पहुँचा जा सकता है जहाँ 'अलख निरंजन' का दर्शन होता है :

मन लागा उन मन्न सों, गगन पहुँचा जाइ।
देख्या चंद बिहूँणा, चाँदिणाँ, तहाँ अलख निरंजन राइ।।

कबीर अपनी सहज साधना में मन के नियंत्रण पर बहुत जोर देते हैं। 'मन कौ अंग' में मन की चंचलता का जिक्र विभिन्न रूपों में करते हुए उसके बहकावे में न आने की हिदायत देते हैं। वे मन की तुलना मदमस्त हाथी से करते हुए उसे मार कर अपने वश में करने को कहते हैं। मन गाफिल होकर संसार की विषय–वासना में रत हो जाता है। यमलोक में जाकर मनुष्य को इसका दंड सहना पड़ता है। मन विषय की ओर प्रेरित करता है तथा सदगुरु के उपदेश से विमुख करता है। मन के वश में पड़कर मनुष्य अपना जीवन गँवा देता है। मन सब कुछ जानते हुए भी अर्थात विवेक रखकर भी अवगुण की ओर प्रेरित करता है। यह इसी प्रकार है मानो किसी के हाथ में दीपक हो फिर भी वह कुएँ में गिर पड़े। इसलिए जीव की सामान्य आदत की तरह मन के अनुसार न चलने की सलाह देते हुए कबीर कहते हैं कि तकुए पर चढ़े कच्चे सूत की भांति मन को प्रभु भक्ति में लगा दोः

मन कै मते न चलिये, छाड़ि जीव की बाँणि।
ताकू केरे सूत ज्यूँ, उलटि अपूठा आँणि।।

कबीर मनुष्य जन्म को दुर्लभ मानते हैं। इसे वे पेड़ पर लगे फल के समान मानते हैं जो एक बार गिर गया तो फिर नहीं लगाया जा सकताः

मनिषा जनम दुर्लभ है, देह न बारंबार।
तरवर थैं पल झड़ि पड़या, बहुरि न लागै डार।

तात्पर्य यह है कि मनुष्य को अपने जीवन को व्यर्थ नहीं गँवाना चाहिए।

कबीर साधना के इस कठिन मार्ग पर साधक को धैर्य बनाए रखने और धीरे-धीरे आगे बढ़ने की सलाह देते हैं। जो इस पद्धति का अनुसरण करता है वह एक न एक दिन ब्रह्म प्राप्ति के लक्ष्य को प्राप्त कर ही लेता है :

करता की गति अगम है, तूँ चलि अपणैं उनमान।
धीरै धीरै पाव दे, पहुँचैगे परवान।।

कबीर अपने साधना पथ को निष्काम रखना चाहते हैं। उनका मानना है कि जब तक भक्ति कामनामय है तब तक वह निष्फल ही रहेगी। कबीर प्रश्न करते हैं कि निष्काम ब्रह्म किसी कामनामय व्यक्ति से क्यों मिलना चाहेगा? ('निहकर्मी पतिव्रता कौ अंग', साखी 10) उनके अनुसार विषय-वासना से दूर रहकर निष्काम भक्ति ही संतों का लक्षण है। ('साध साषीभूत कौ अंग', साखी–1) सभी बातों का सार यहीं है कि प्रभु चतुराई से नहीं मिलते। जो दीन भाव से निष्काम रहकर प्रभु को भजता है उसे ही वे मिलते हैं :

चतुराई हरि नाँ मिले, ए बाताँ की बात।
एक निसत्रेही निरधार का, गाहक गोपीनाथ।।

यद्यपि कबीर में मुख्य रूप से दांपत्य भाव की भक्ति मिलती है, लेकिन कई बार वहाँ दास्य भाव तथा वात्सल्य भाव भी दिखाई पड़ जाता है। जैसे, दास्य भाव की भक्ति :

तो तो करै त बाहुड़ो, दुरि दुरि करै तो जाउं।
ज्यू हरि राखैं त्यूँ रहौं, जो देवैं सो खाउं।।
× × × ×
मै गुलाँम मोहि बेच गुसाईं, तन मन धन मेरा रामजी के ताँई ।। टेक।।
आँनि कबीरा हाटि उतारा, सोई गाहक बेचनहारा।।

वात्सल्य भाव की भक्ति :

हरि जननी मैं बालिक तोरा, काहे न औगुण बकसहु मेरा।। टेक।।
सुत अपराध करै दिन केते, जननी कै चित रहै न तेते।।

कबीर ने अपनी सहज साधना को साहस का कार्य बताया है। इस साधना मार्ग पर शूरवीर ही चल सकता है। 'सूर तन कौ अंग' में कबीर ऐसे शूरवीर के गुणों का बखान करते हैं। उनके अनुसार कायर सांसारिक बंधनों से मुक्त नहीं हो सकता है। कबीर के अनुसार सच्चा वीर वही है जो मनरूपी शत्रु के पाँचों सैनिकों-काम, क्रोध, मद, लोभ तथा मोह से जूझ सके और साधक और ब्रह्म के बीच जो द्वैत है उसे मिटा दे :

कबीर सोई सूरिवाँ, मन सूँ माँडै झूझ।
पंच प्यादा पाड़िले, दूरि करै सब दूज।।

कबीर ईश्वर पर अडिग विश्वास रखते हुए इस पथ पर आगे बढ़ने और किसी प्रकार की चिंता न करने की सलाह देते हैं। प्रभु जीव, जंतु, पशु, पक्षी–सभी का ख्याल रखते हैं :

> च्यंता न करि अच्यंत रहु, सांई है सम्रंथ।
> पसु पंषरू जीव जंत, तिनको गांडि किसा ग्रंथ।।

साधना के दौरान इन तमाम नियंत्रणों, सलाहों और योग्यताओं की चर्चा करते हुए कबीर प्रभु भक्तों से निरंतर नाम स्मरण करते रहने को कहते हैं। 'सुमिरण कौ अंग' में वे बतलाते हैं कि नाम स्मरण से अहंकार का नाश होता है। भक्तों सिर्फ राम नाम की चिंता करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त जो कुछ और वह चिंता करता है तो काल के गाल में समा जाता है। प्रभु के नाम स्मरण करने से पृथकता का भेद मिट जाता है :

> तूँ तूँ करता तूँ भया, मुझ मैं रही न हूँ।
> वारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ।।

6.8 योग, ज्ञान और प्रेम का समन्वय

कबीर के बारे में हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है, ''कबीरदास की वाणी वह लता है जो योग के क्षेत्र में भक्ति का बीज पड़ने से अंकुरित हुई थी।'' (कबीर संस्करण 2016, पृ–123) वे यह भी कहते हैं कि ''कबीरदास योग-मार्ग की ओर झुके हुए थे।'' तात्पर्य यह कि उनकी सहज साधना में योग का महत्व केंद्रीय है। कबीर ने मन-शुद्धि के लिए तथा ईश्वर साक्षात्कार के लिए योग के मार्ग को चुना। उनकी योग पद्धति में कुंडलिनी को जागृत कर षट्चक्र भेदन करते हुए शून्य मंडल तक पहुँचाने की बाते की गई है। कबीर जोगी को 'अवधूजोगी जग थै न्यारा' कहकर आदर देते हैं। कबीर के अनेक पदों में कुंडलिनी के गगन मंडल तक पहुँचने का जो आध्यात्मिक सुख है उसका वर्णन किया गया है। उदाहरणस्वरूप :

> अवधू गगन मंडल घर कीजै।
> अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंक नालि रस पीजै।।
> मूल बाँधि सर गगन समाना, सुखमन यों तन लागी।।
> काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहँ जोनणीं जागी।।
> मनवा जाइ दरीबै बैठा, गगन भया रसि लागा।
> कहै कबीर जिय संसा नाँही, सबद अनाहद बागा।।

अर्थात हे अवधूत तुम सहस्त्रार में अपना घर बना लो। ब्रह्मरन्ध्र में बस जाओ। वहाँ सदैव अमृत रस झरता है उसका पान करो। मूलाधार से ऊपर उठकर कुंडलिनी सुषुम्ना नारी के माध्यम से ऊपर उठकर गगन अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र तक पहुंचती है। काम क्रोध दोनों के नष्ट हो जाने पर कुंडलिनी जागृत होती है। शून्य के झरोखे में पहुँचकर परमात्मा से मिलन होता है। मन में संशय नहीं रह जाता और निरंतर अनहद नाद बजता रहता है।

इस पूरी प्रकिया को स्पष्टता से समझने की जरूरत है। योग साधना में इस पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त महाकुंडलिनी नामक शक्ति की परिकल्पना की गई है। यह शक्ति अंश रूप में अर्थात कुंडलिनी के रूप में प्रत्येक मनुष्य में रहता है। इसका स्थान मेरूदंड के सबसे निचले भाग के पास होता है। यह कुंडलिनी जिस स्थान पर होता है उसे अग्निचक्र कहते हैं। अग्निचक्र के ऊपर क्रमशः मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा चक्र नामक छः चक्र होते हैं। इसे ही षट्चक्र कहा गया है। इनके ऊपर मस्तिष्क में शून्य चक्र है, जिसे सहस्रार चक्र भी कह जाता है। शून्य चक्र को ही गगन मंडल भी कहा जाता है।

मेरुदंड में बाँई ओर इड़ा और दाहिनी ओर पिंगला नाड़ी है। इन दोनों के बीच सुषुम्ना नाड़ी होता है। कुंडलिनी सुषुम्ना होकर ही गमन करता है।

अग्निचक्र में स्थित कुंडलिनी सर्पिणी की भाँति होती है। सामान्यतः यह अधोमुख होती है। योगक्रिया के माध्यम से योगी कुंडलिनी ऊपर की ओर गमन कराता है। कुंडलिनी की ऊपर की यात्रा प्रणायाम साधना की पूर्णता की अवस्था में होती है। इस अवस्था में वह काम-क्रोध पर विजय पा लेता है। कुंडलिनी छः चक्रों का भेदन कर सहस्रार अथवा गगन मंडल तक पहुँचता है। कुंडलिनी जब ऊपर की ओर यात्रा करती है तब स्फोट होता है। उससे नाद उत्पन्न होता है। यह नाद पूरे ब्रह्मांड में व्याप्त अनाहत नाद का ही अंश रूप है। सहस्रार के ब्रह्मरंध्र से अमृत स्रावित होता है।

कबीर ने अपने पदों में साधक के गगन मंडल में पहुँचने की अनुभूति का विभिन्न तरीके से बखान किया है।

कबीर की साधना में योग के साथ ज्ञान और प्रेम के समन्वय होने से परमब्रह्म के विविध रूपों के दर्शन होते हैं। ज्ञान की प्राप्ति गुरु के कृपा से होती है। इससे सभी प्रकार का भ्रम मिट जाता है। अनंत ज्योति प्रकाशित हो जाती है। हृदय कमल विकसित हो जाता है। अनंत ज्योति के साक्षात्कार से मृतक तुल्य जीव में शक्ति का संचार हो जाता है। ज्ञान के धनुष से काल रूपी शिकारी भाग जाता है। इस प्रकार अज्ञान की दशा में भ्रम में पड़ा मनुष्य जो सो रहा था वह ज्ञान के आगमन से जाग उठता है। उसे जिस परमब्रह्म का साक्षात्कार होता है उसका अनादि, अनुपम रूप वर्णनातीत है। वह गूँगे के मिठाई के समान है जिसका संकेत किया जा सकता है पर वर्णन नहीं :

अब मैं, पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान,
सहज समाधि सुख में रहिबो, कोटि कलप विश्राम ।। टेक।।
गुरु कृपाल कृपा जब कीन्हौ, हृदय कँवल विगासा।
भाग भ्रम दसौं दिस सुझया, मरम ज्योति प्रकासा
मृतक उठा धनक कर लीयै, काल अहेड़ी भागा
उदय सूर निस किया पयाँना, सोवत थैं जब जागा।
अविगत अकल अनुपम देख्या, कहता कह्या न जाई।।
सैन करै मन हो मर रहसै, गूँग जाँनि मिठाई।।

योग और ज्ञान के साथ ही कबीर के दर्शन में प्रेम को भी पर्याप्त महत्व दिया गया है। प्रेम के मिलन और विरह–दोनों पक्षों की अभिव्यक्ति यहाँ हुई है, परंतु प्रधानता प्रेम के विरह पक्ष को दिया गया है।

कबीर गुरु के निर्देशानुसार प्रेम का पासा पकड़कर दाव खेलते हैं। अर्थात प्रेम का सहारा लेकर ही वे साधना में आगे बढ़ते हैं :

पासा पकड़्या प्रेम का, सारी किया सरीर।
सतगुर दावा बताइया, खेलै दास कबीर।।

उनका मानना है कि जिस हृदय में प्रेम नहीं है और जिह्वा पे राम का नाम नहीं है उस व्यक्ति का जीवन व्यर्थ ही जाता है :

जिहि घट प्रीति न प्रेम रस, फुनि रसना नहीं राम।
ते नर इस संसार में, उपजि षये बेकाम।।

कबीर साधकों को प्रेम रूपी घोड़े पर सतर्कतापूर्वक चढ़कर और ज्ञान का खड्ग लेकर तथा ये समझते हुए कि काल सिर पर सवार है (अर्थात् जीवन छोटे समय का है) विषय वासना से लड़ने की सलाह देते हैं :

कबीर घोड़ा प्रेम का, चेतनि चढ़ि असवार।
ग्यौंन षड़ग गहि काल सिरि, भली मचाई मार।।

कबीर साधक को परमात्मा से एकनिष्ठ प्रेम करने की सलाह देते हैं। एकनिष्ठ प्रेम के मामले में सती स्त्री उनका आदर्श हैः

सती बिलारी सत किया, काठौ सुज बिछाई।
ले सूती पिव अपणां, चहुँ दिसी अगनि लगई।।

सती स्त्री सत्य के मार्ग पर चलते हुए अपने पति के मृत शरीर को लेकर आग में चढ़ जाती है और मर मिटती है। कबीर इसी प्रकार का समर्पण साधक से भी चाहते हैं। 'निहकर्मी पतिव्रता को अंग' में कबीर ने प्रेम एवं दांपत्य के विभिन्न प्रतीकों और रूपकों के माध्यम से परमात्मा के प्रति उत्कट रागात्मकता का परिचय दिया है। वे कहते हैं कि तुम मेरे नैनों में आकर बस जाओ और मैं आँख मूँद लूँगी। न मैं किसी और को देखूँगी और न तुझे किसी को देखने दूँगी। कबीर कहते हैं कि पतिव्रता स्त्री अपने माँग में सिंदूर लगाती है, वहाँ काजल नहीं लगा सकती। इसी भाँति मेरे आँखों में राम बस गए हैं किसी और के लिए स्थान नहीं है।

जिस प्रकार 'निहकर्मी पतिव्रता को अंग' में परमात्मा के प्रति कबीर की उत्कृष्ट रागात्मकता व्यक्त हुई है उसी तरह 'विरह कौ अंग' में परमात्मा से विरह की व्याकुलता को व्यक्त करते हैं। इस अंग की साखियों में विरहिनी साधक अथवा आत्मा का तथा प्रियतम परमात्मा का प्रतीक बन जाता है। विरहिनी रूप में साधक बहुत दिनों से राम के आने की बाट जोहती है। राम के दर्शन के लिए नैन तड़प रहे हैं। वे कहते हैं कि मैं इस तन को जलाकर राख कर देना चाहती हूँ। इस जलने के क्रम में धुआँ शायद स्वर्ग तक चल जाएगा। राम मेरी सुधि लेगें, और प्रेम की वर्षा कर विरह की अग्नि को शांत करेगें। जिसके शरीर पर विरह का साँप घर कर लेता है उसे कोई मंत्र नहीं लगता । विरह रूपी साँप को किसी उपाय से भगाया नहीं जा सकता। ऐसा राम वियोगी या तो जीवित नहीं बचता अगर बच जाता है तो पागल हो जाता है। साधना के क्षेत्र में कबीर विरह को बुरा नहीं मानते, बल्कि जिसके अंदर विरह मिलन की व्याकुलता है वही सार्थकों में सुल्तान है। जिस हृदय में विरह नहीं है वह मरघट के समान है :

बिरहा बिरहा जिनि कहौ, बिरहा है सुलितान।
जिह घटि बिरह न संचरै, सो घट सदा मसान।।

इस प्रकार कबीर का परमात्मा तक पहुँचने का जो दर्शन है उसमें योग, ज्ञान और प्रेम का समन्वित महत्व है।

6.9 गुरु का श्रेष्ठ पद

कबीर के दर्शन में गुरु का स्थान सर्वश्रेष्ठ है। कबीर के यहाँ गुरु राह दिखाने वाला तो है ही, कई बार वे गुरु को गोविंद के समकक्ष स्थान देते हैं तथा कई बार गुरु और गोविंद में वे कोई फर्क नहीं करते। परमात्मा के वास्तविक स्वरूप की जानकारी उन्हें गुरु से ही मिलती है। वे कहते हैं कि एक ही अल्लाह अर्थात परमात्मा से समस्त संसार का निर्माण हुआ है। उसी एक ईश्वर के प्रकाश से समस्त संसार प्रकाशित है फिर इसमें अच्छे बुरे का फर्क क्यों? लेकिन उस अल्लाह की गति को अर्थात कार्य-कलाप को मैं नहीं जानता था। गुरु ने ऐसा मीठा गुड़ अर्थात सुंदर ज्ञान दिया कि मैं सब कुछ जान गया। मुझे हर जगह प्रभु दिखाई देने लगे :

अला एकै नूर उपनाया, ताकी कैसी निंदा।।
ता नूर थै सब जग किया, कौन भला कौन मंदा।।
ता अला की गति नहीं जाँनी, गुरि गुड़ दीया मीठा।।
कहै कबीर मैं पूरा पाया, सब घटि साहब दीठा।।

कबीर यह मानते हैं कि साधना के मार्ग पर गुरु कृपा के बिना आगे नहीं बढ़ा जा सकता। परमब्रह्म मनुष्यों पर कृपारूपी मोतियों की वर्षा करते हैं। उसे वही चुन पाता है जिसके पास गुरु का मार्गदर्शन है। जिसके पास गुरु नहीं है वह इससे वंचित रह जाता है :

पार ब्रह्म बूठा मोतियाँ, घड़ बाँधी सिषरांह।
सगुरां सगुरां चुणि लिया, चूक पड़ी निगुरांह।।

कबीर का मानना है कि मनुष्य इस संसार में आकर अज्ञानता वश परमात्मा को भूल जाता है। वह सांसारिक माया मोह में पड़ जाता है। सतगुरु ही विषय वासना रूपी व्याभिचार से निरत कर उसके वास्तविक स्वामी अर्थात् परमात्मा से परिचय कराता है :

भोलै भूली खसम कै, बहुत किया बिभचार।
सतगुर गुरु बताइया, परिबला भरतार।।

गुरु के उपदेश के कारण ही साधक गूंगा, बहरा और लंगड़ा हो जाता है अर्थात बाहर से अंदर की ओर उन्मुख हो जाता है :

गूँगा हूवा बावला, बहरा हुआ कान।
पाऊँ थै पंगुल भया, सतगुर मार्‌या बाण।।

कबीर का मानना है कि गुरु शिष्यों के हृदय में ज्ञान का प्रकाश भरता है। ऐसे गुरु से विमुख नहीं होना चाहिए। इस संसार में गुरु भगवत्कृपा से ही मिलता है :

ग्यान प्रकास्या गुर मिल्या, सो जिनि बीसरि जाइ।
जब गोबिंद कृपा करी, तब गुर मिलिया आइ।

साधक को सच्ची राह दिखाने में गुरु का योगदान असीम है। इसलिए वे गुरु और गोविंद में कोई भेद नहीं देखते। जो भेद दिखाई देता है वह माया के द्वारा उत्पन्न द्वैत है। अगर इसे खत्म कर दिया जाए तो प्रभु मिल जाते हैं :

गुरु गोविन्द तौ एक है, दूजा यह आकार।
आपा मेट जीवत मरै, तो पावै करतार।

6.10 सारांश

भक्ति की निर्गुण धारा के संत कवि कबीर मुख्य रूप से एक भक्त कवि और साधक थे। उन्होंने अवतारवाद की परिकल्पना को अस्वीकार किया तथा निर्गुण-निराकार ब्रह्म को अपना उपास्य बनाया। निर्गुण ब्रह्म की उपासना के क्रम में उन्होंने भारतीय परंपरा में ईश्वर अथवा परमात्मा से संबंधित हर दृष्टिकोण को जाँचा-परखा तथा उन्हें जो कुछ भी सहज लगा उसे स्वीकार किया तथा उन्हें जो कुछ भी अपनी उपासना पद्धति के अनुकूल नहीं लगा उसका उन्होंने त्याग किया। वे ऐसे परमात्मा की परिकल्पना पेश कर रहे थे जिसकी प्राप्ति का प्रयास हर कोई कर सकता था। जन्मना जाति, धर्म, शिक्षा तथा पारंपरिक सामाजिक विशेषाधिकारों की इसमें कोई भूमिका नहीं थी। कबीर ब्रह्म संबंधी अपनी स्थापनाओं तथा उपासना पद्धति की विशिष्टताओं को रेखांकित करने के क्रम में

पूर्व की सभी उपासना पद्धतियों से जिरह करते हैं तथा इसी क्रम में उनके दर्शन का विकास होता है। उन्होंने ईश्वर और जीव के अद्वैत को स्वीकार किया है पर कुछ साम्यता के बावजूद यह शंकराचार्य के अद्वैतवाद के पूर्ण साम्य में नहीं है – शंकराचार्य ब्रह्म के मायोपाधिक रूप 'ईश्वर' की परिकल्पना करते हैं और अवतारवाद को साधना के प्रथम चरण के रूप में स्वीकार करते हैं, कबीर इसे स्वीकार नहीं करते। कबीर माया की भ्रामक भूमिका को स्वीकार करते हैं। उन्होंने माया की निंदा विभिन्न रूपों में की है। उनके दर्शन में वे सभी चीजें जो परमात्मा की राह पर चलने से साधक को विचलित करती हैं, माया के अधीन है। माया की भूमिका को स्वीकार करने के साथ ही कबीर इस जगत की निस्सारता पर भी जोर देते हैं। उनका मानना है कि जीवन क्षणभंगुर है। इस जगत के जितने भी ऐश्वर्य हैं उसका भी यही हश्र होना है। वे परमात्मा से संबंध को ही एकमात्र सत्य मानते हैं। कबीर ने मृत्यु की स्थायी नियति की ओर बार-बार ध्यान दिलाया है।

कबीर ने अपने ब्रह्म को 'राम' का नाम दिया है। 'राम' उनके दर्शन में गुणवाचक हैं, किसी पौराणिक सत्ता के रूप में वे 'राम' को स्वीकार नहीं करते। राम के अतिरिक्त विभिन्न साखियों-पदों में उन्होंने ब्रह्म के लिए गोविंद, अला आदि संज्ञाओं का भी इस्तेमाल किया है। कबीर के 'राम' निर्गुण हैं, गुणातीत हैं, अनिर्वचनीय हैं। इस क्रम में उन्होंने धर्मगत विभेद को अस्वीकार किया है तथा परमात्मा के सभी रूपों के एकत्व पर जोर दिया है।

कबीर कर्मफल और परलोक की अवधारणा में विश्वास करते हैं और सहज साधना पर जोर देते हैं। उनकी सहज साधना में कर्मकांड, बाह्याचार तथा पुस्तकीय ज्ञान की कोई भूमिका नहीं है। वे साधना को निष्काम रखने पर जोर देते हैं। योग उनके लिए चित्तशुद्धि का साधन है। साधना का मार्ग कठिन है, जिस पर पूर्ण समर्पण के बाद ही आगे बढ़ा जा सकता है।

योग के साथ परमात्मा की प्राप्ति के लिए ज्ञान और प्रेम आवश्यक है। ज्ञान की प्राप्ति के लिए गुरु की कृपा आवश्यक है। गुरु ही साधक को सही मार्ग पर अग्रसर करता है। जब सांसारिक तृष्णाएँ मिट जाती हैं तब साधक के अंदर ज्ञान प्रकट होता है। ज्ञान के साथ ही परमात्मा के प्रति एकात्म प्रेम के द्वारा ब्रह्म का साक्षात्कार किया जा सकता है।

6.11 अभ्यास प्रश्न

(1) कबीर के अद्वैतवाद की व्याख्या कीजिए। यह भी रेखांकित कीजिए कि कबीर का अद्वैतवाद शंकराचार्य के अद्वैतवाद से किस प्रकार भिन्न है?

(2) कबीर की ब्रह्म संबधी अवधारणा पर प्रकाश डालिए।

(3) कबीर के दर्शन को जीवन आधारित दर्शन क्यों कहा गया है? स्पष्ट कीजिए।

(4) माया के संबंध में कबीर की धारणा क्या है? स्पष्ट कीजिए।

(5) कबीर ने अपनी साधना को सहज साधना क्यों कहा है?

(6) कबीर की साधना पद्धति के मुख्य अवयवों का विश्लेषण कीजिए।

इकाई 7 कबीर की कविता में दर्शन

इकाई की रूपरेखा

7.0 उद्देश्य

7.1 प्रस्तावना

7.2 कबीर की कविता में दर्शन

- 7.2.1 साधना
- 7.2.2 माया
- 7.2.3 योग
- 7.2.4 विलक्षणता
- 7.2.5 अद्वैतवाद में जीव की स्थिति
- 7.2.6 जगमिथ्या
- 7.2.7 जीव

7.3 कबीर की उलटबासियाँ

7.4 कबीर का रहस्यवाद

7.5 कबीर की कविता में सामाजिक दृष्टिकोण

7.6 सारांश

7.7 अभ्यास प्रश्न

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

7.0 उद्देश्य

इस पाठ्यक्रम के खंड–2 की यह दूसरी इकाई है। यह इकाई कबीर के दार्शनिक विचारों से संबद्ध है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- शंकराचार्य और कबीर के 'अद्वैतवाद' में अन्तर कर पाएँगे;
- कबीर के सामाजिक दर्शन या सामाजिक चिन्तन पर पड़े प्रभावों को उद्घाटित कर पाएँगे;
- कबीरदास के 'ब्रह्म' की विशेषताओं का निरूपण कर सकेंगे; और
- कबीर के 'आत्म दर्शन' को विवेचित करने में सक्षम हो सकेंगे।

7.1 प्रस्तावना

कबीरदास हिन्दी के महत्वपूर्ण दार्शनिक कवि हैं। उनकी कविता केवल अनुभव से उत्पन्न नहीं हुई है वरन् इसके मूल में गंभीर दार्शनिक चिन्तन और विचार है। वे जब मूर्ति पूजा का खंडन करते हैं तब उनका निर्गुण ब्रह्म का दार्शनिक विचार सक्रिय रहता है। जब वे बाह्याचारों का खंडन करते हैं तो उनकी माया संबंधी धारणा आधार के रूप में कार्य करती है। उनकी कविताओं से इस तरह से कई उदाहरण दिए जा सकते हैं।

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

कबीर की कविता पढ़ते समय सहज ही हमारा ध्यान उनके दर्शन पर चला जाता है। मीरा की कविता में कई बार उनका वैयक्तिक अनुभव आता है लेकिन कबीर का वैयक्तिक अनुभव उनका दार्शनिक अनुभव है। वे दर्शन से जीवन का अनुभव करते हैं। दार्शनिक दृष्टि से जीवन को देखते हैं। इस इकाई में आप यह अध्ययन करेंगे कि कबीर ने भारतीय परंपरा के किस दर्शन या किन दार्शनिक सिद्धांतों को अपनी कविता में अभिव्यक्त किया है।

वैसे तो उनकी वाणी में सरल शब्दों का प्रयोग अधिक हुआ है लेकिन एक दार्शनिक के रूप में जिन बिम्बों और प्रतीकों का उन्होंने उपयोग किया है, वे उनकी कविता को सरल नहीं रहने देते। अतः कबीर की कविता का अध्ययन करते हुए बहुत सावधानी बरतनी चाहिए। कुछ पारिभाषिक और प्रतीकात्मक शब्दों की जानकारी के अभाव में उनकी कविता को समझने में हमें कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है।

7.2 कबीर की कविता में दर्शन

कबीर की मान्यता है कि सद्गुरु के अभाव में समुचित साधना संभव नहीं है। इसलिए उन्होंने सद्गुरु को ईश्वर से बड़ा मानते हुए लिखा है –

> गुरु गोबिन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पायँ।
> बलिहारी गुरु आपने, जिन गोबिन्द दियों मिलाय।।

लेकिन कबीर वंचक गुरुओं के प्रति सावधान करते हुए सद्गुरु के चयन में बहुत सावधानी बरतने की हिदायत भी देते हैं। इस संबंध में उन्होंने लिखा है –

> ये कलि गुरु बड़े परपंची, डारि ठगौरी सब जग मारा।
> बेद कितेब दुइ फंद पसारा, तेहि फंदे परु आप बिचारा।।

कलियुग में ऐसे बहुत से प्रपंची गुरु हो गए हैं जो वेद-शास्त्र के फंदों में फँसाकर लोगों को तबाह करते हैं। राम-रहीम को एक मानते हुए कबीर हिन्दू-मुसलमान की एकता पर बल देते हुए कहते हैं –

> हमारै राम रहीम करीमा केसो, अलाह रॉंम सति सोई
> बिसमिल मेटि बिसंभर एकै, और न दूजा कोई।।
> इनकै काजी मुलाँ पीर पैगंबर, रोजा पछिम निवाजा।
> इनकै पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग दिवाजा।।
> तुरक मसीति देहुरे हिन्दू, दहूँठा राम खुदाई।
> जहाँ मसीति देहुरा नाँहीं, तहाँ काकी ठकुराई।
> हिन्दू तुरक दोऊ रहु तूटा, फूटी अरु कनराई।
> अरध उरध दसहूँ दिसि जित तित, पूरी हया राम राई।
> कहै कबीरा दास फकीरा, अपनी राह चलि भाई।
> हिन्दू तुरक का करता एकै, ता गति लखी न जाई।।

7.2.1 साधना

कबीर बाह्यचार के कारण हिन्दू-मुसलमानों के बीच प्रचलित ईश्वर के अलग–अलग स्वरूपों का खंडन करते हुए एक ही ईश्वर को स्वीकृति प्रदान करते हैं। वे भिन्न नामों और पूजा पद्धतियों की विविधता के कारण उत्पन्न दोनों के भेदभाव को निरर्थक सिद्ध करते हैं। इस तरह की स्थितियों के विषय में कबीरदास ने प्रतीकात्मक शैली का भी प्रयोग किया है, जिसका उदाहरण है –

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

हरि के खारे बरे पकाए, जिनि जानें तिन खाए।
ग्यान अचेत फिरैं नर लोई, ताथैं जनम-जनम डहकाए।।
धौल मंदलिया बैल रबाबी कउवा ताल बजावै।
पहिरि चोलना गादह नाचै भैंसा निरति करावै।
सिंध ज बैठा पान कातरे घूँस गिलोरा लावै।
ऊँदरी बपुरी मंगल गावै कछुवा संख बजावै।
कहै कबीर सुनहु रे संतौ गड़री पाबत खावा।
चकवा बैसि अंगारे निगलै समद अकासा धावा।।

इस पद में कबीर ज्ञानी और पाशविक प्रवृत्ति में मनुष्य को विभक्त कर बताते हैं कि ज्ञानियों द्वारा जिसे अध्यात्म की प्राप्ति का साधन बनाया जाता है उन्हीं साधनों का प्रयोग करके भी अज्ञानी-जीव निम्नकोटि की प्रवृत्तियों के वशीभूत होकर विषय वासना के चक्कर में भ्रमित होता रहता है। यहाँ कुछ कठिन शब्दों के अर्थ दे रहे हैं। जिनके सहारे आप लोग स्वयं पद का अर्थ लगाने का प्रयास करें। खारे बरे=कड़वा बड़ा; डहकाए=भटकते हुए; धौल=कबूतर जैसा सफेद पक्षी; मंदलिया=मादल (मृदंग) बजाने वाला; रबाबी=रबाब (एक प्रकार वाद्य यंत्र); चोलना=चोला, वस्त्र; निरति=नृत्य; घूँस = एक प्रकार का बड़ा चूहा; गिलौरा=पान का बीड़ा (गिलौरी), ऊँदरी बपुरी (चुहिया बेचारी), गड़री=एक प्रकार की घास; समद=समुद्र।

7.2.2 माया

कबीरदास ने मोह-माया की दुनिया से दूर रहने पर बहुत जोर दिया है। माया से मुक्त जीवन परमात्मा में विलीन हो जाता है। शरीर की नश्वरता को देखते हुए माया के चंगुल में नहीं फँसना चाहिए। कबीरदास की विशेषता है कि वे व्यवहार के लिए स्वीकृत शब्दों को भी भिन्न अर्थ में प्रयुक्त करने की कला में माहिर हैं। यहाँ एक उदाहरण प्रस्तुत है –

सुवटा डरपत रहु रे भाई, तोहि डराई देति बिलाई।
तीनि बार रूँधै इक दिन में, कबहुँक खता खवाई।।
या मंजारी मुगध न मानै, सब दुनिया बहकाई।
राना राव रंक कौं ब्यापै, करि करि प्रीत सवाई।।
कहत कबीर सुनहुरे सुवटा, उबरै हरि सरनाई।
लाखौं माँहि तें लेत अचानक, काहू न देत दिखाई।।

समुचित उपमानों के माध्यम से कबीर रूपक बांधने में अत्यंत माहिर हैं। प्रस्तुत पद में उन्होंने तोता (सुवटा) रूपी जीव और बिलाई (बिल्ली) के उपमान द्वारा एक सफल रूपक बांधा है। चूहा-बिल्ली की तरह तोता-बिल्ली का विरोधपूर्ण अत्यंत नजदीकी सम्पर्क है।

कबीरदास यहाँ तोता (सुवटा) रूपी जीव को चेतावनी देते हुए उसे सावधान रहने और बिल्ली (बिलाई) रूपी माया से हमेशा डरते हुए दूर रहने के लिए कहते हैं क्योंकि बिल्ली तोते को हमेशा डराती रहती है। वह एक दिन में तीन बार अर्थात् कई बार उसे घेरती रहती है और थोड़ी सी असावधानी (खता) से दबोच लेने का प्रयास करती रहती है। यह मूढ़ (मुगध) माया सारी दुनिया को धोखा देने के लिए जाल फैलाती है। राजा, राव और गरीबों तक को प्रेमपूर्वक फाँसने को तैयार रहती है। जीवन (सुव) को पुनः चेतावनी देते हुए कबीर कहते हैं कि ईश्वर (हरि) की शरण में जाकर ही इससे मुक्ति मिल सकती है। वरना यह लाखों के बीच से अचानक किसी को दबोच लेती है, जिसका किसी को पता भी नहीं लगता।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

7.2.3 योग

कबीर ने योग साधना के बाह्य आडंबरों का विरोध करते हुए भी मन की स्थिरता के लिए उसका सहारा लिया है और इसे सहज योग की संज्ञा दी है –

सो जोगी जाके सहज भाइ।
अकल प्रीति की मोख खाइ ।।
सबद अनाहद सींगी नाद, काम क्रोध का विषय न बाद।
मन मुद्रा जाकै गुरुको ज्ञान, मिकुट कोट मै धरत ध्यान।
काया कासी खोजै बास, तहन जोति सरूप भयौ परकाश।
ज्ञान मेषली सहज भाइ, बंक नालि को रस खाइ।
जोग मूल को देइ बंद, कहि कबीर थिर होइ कंद।।

इस पद में कबीरदास ने सच्चा योगी उसे बताया है जो किसी वेशभूषा बाह्य उपकरणों- श्रृंगी, मुद्रा, मेखला आदि के बिना योग करता है। सच्चा योगी वही है जो आत्मस्वरूप में स्थित होकर ईश्वर के अखण्ड प्रेम की भिक्षा खाकर अपना जीवनयापन करता है। उसके भीतर का अनाहद शब्द ही श्रृंगी नाद के रूप में ध्वनित होता है। ऐसी स्थिति में उसमें विषय-वासना समाप्त हो जाती है। तर्क-वितर्क से परे वह गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान ही जिसके मन को स्थिर करने वाली मुद्रा होती है। उसे बाहरी मुद्रा को धारण करने की जरूरत नहीं होती। वह त्रिकुटी रूपी गढ़ में परम तत्व का ध्यान करता है। वह मन को शुद्ध करने वाले ज्ञान जल से स्नान करता है। वह भौगोलिक काशी को महत्व नहीं देता बल्कि कायारूपी काशी में ही निवास करता है। वहाँ ज्योति स्वरूप परमात्मा का प्रकाश होता रहता है। सामान्य योगियों की तरह उसे मूँज की मेखला धारण करने की जरूरत नहीं होती। वह सहज भाव रूपी ज्ञान की मेखला धारण करने वाला होता है। साधारण योगी भौतिक रस का पान करते हैं किन्तु सच्चा योगी बक्रनाल द्वारा प्रस्तुत अमृतरस का पान करता है। सामान्य योगी कोपीन द्वारा गुप्तांगों को ढँकते हैं किन्तु वास्तविक योगी वह है, जो 'मूलबंध' का प्रयोग करता है, जिससे उसका कन्द स्थिर रहता है। यहाँ प्रयुक्त 'मूलबंध' अत्यन्त पारिभाषिक शब्द है, जिसका अर्थ है एड़ी से गुदा और लिंग के बीच के स्थान को दबाकर गुदा को आकुंचित करके **अपान** वायु को ऊपर खींचने की क्रिया से गुदा आकुंचित हो जाती है। ऐसी स्थिति को 'मूलबंध' कहते हैं।

माया से मुक्ति का समाधान भी कबीर के पास है। वह गुरु ज्ञान की प्राप्ति से संभव है –

हमारे गुरु दीनी अजब जरी।
कहा कहौं कछु कहत न आवै अमृत रसन भरी।।
याही तैं मोहि प्यारी लागी लैकें गुपुत धरी।
पाँचौ नाग पचीसौं नागिनि सूँघत तुरत मरी।
डाँइनि एक सकल जग खायो सो भी देखि डरी।
कहे कबीर भया घट निर्मल सकल वियाधि टरी।।

यहाँ कबीर ने गुरु द्वारा प्रदान की गई अजब जड़ी-बूटी के महत्व का प्रतिपादन करते हुए स्वयं को मायादि सम्पूर्ण अवरोधों से बचे रहने के महत्व का उद्घाटन किया है। वे कहते हैं अमृत रस से परिपूर्ण इस जड़ी के महत्व का बखान करना कठिन है। यह अमृत से परिपूर्ण है। इसी लिए वह मुझे अत्यन्त प्रिय है, जिसे गुप्त धन की तरह मैंने छिपा कर रखा है। जैसे सपेरा अपने झोले छिपाकर रखी हुई जड़ी को नाग-नागिनों को सुँघाकर उन्हें अपने वश में रखता है, उसी प्रकार गुरु द्वारा प्रदत्त ज्ञान (जड़ी) से मैंने पाँचों इन्द्रियों तथा पाँचों तत्वों से पैदा होने वाले पचीस मानसिक और शारीरिक विकारों को वश में कर रखा है। सारे संसार को अपने वश में रखकर सर्वनाश करने वाली माया रूपी डायन भी इस जड़ी को देखकर भयभीत हो जाती है। कबीरदास कहते हैं कि इस जड़ी से मेरा शरीर

निर्मल हो गया है और सारी विपत्तियाँ दूर हो गईं। यहाँ भी कबीर ने नाग-नागिन का और डायन के प्रतीकात्मक उपमानों के माध्यम से एक रूपक खड़ा किया है।

7.2.4 विलक्षणता

कबीर के पदों में अनेक अद्भुत रूपक दृष्टिगत होते हैं। सामान्य रूपकों के माध्यम से कबीर के गहन–गंभीर दार्शनिक विचारों की अभिव्यक्ति हुई है। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास को सांगरूपक का सम्राट माना जाता है लेकिन विविध रूपकों की रचना में कबीर भी तुलसीदास से कम नहीं है। कबीरदास ने मदिरा (शराब) निर्माण के रूपक द्वारा साधक के सहस्रार से झरते हुए अमृत रस का पान करने की विधि को अत्यंत विलक्षणता से उद्घाटित करते हुए लिखा है –

> है कोई संत सहज सुख अंतरि जाको जप तप देउँ दलाली।
> एक बूँद भरि देह राम रस ज्यूँ मदु देह कलाली।।
> काया कलाली लाहनि मेलेउँ गुरु का शबद गुड़ कीन्हा।
> त्रिसना, काम, क्रोध मद मतसर काटि काटि कस दीन्हा।
> भवन चतुरदस भाठी पुरई ब्रह्म अगिनि परजारी।
> मुद्रा मदन सहज धुनि लागी सुखमन पोतन हारी।
> नीझर झरै अमी रस निकसै इहि मद रावल छाका।
> कहै कबीर यहु बास बिकट अति ग्यान गुरु लै बांका।।

यहाँ कबीरदास ने मदिरा निकालने की प्रक्रिया का अत्यंत प्रामाणिक और बारीकी के साथ उल्लेख किया है। मदिरा बनाने वाले को कलाल या कलाली कहते हैं जो गुड़ से शराब बना रहा है। शराब बनाते समय खमीर पैदा करने के लिए उसमें जो पदार्थ डाला जाता है, उसे 'लाहन' कहते हैं। उसमें तीखापन लाने के लिए जो पदार्थ डाला जाता है, उसे 'कस' कहा जाता है। शराब तैयार करने के लिए जो भट्टी तैयार की जाती है, उसमें ईंधन द्वारा आग जलाई जाती है। उस भट्टी के ऊपर मटका रखा जाता है, जिसमें मदिरा बनाने की सामग्री रहती है। उस मटके के मुख को कार्क से बन्द कर दिया जाता है। कार्क में एक छेद रहता है, जिसमें एक नली लगाई जाती है। कार्क के छेद को पूरी तरह बन्द करने के लिए नली के चारों ओर मोम लगाते हैं, जिससे भाप बाहर न निकल सके। नली के ऊपर एक गीला कपड़ा लपेटते हैं, जिसे पानी से बराबर भिगोते रहते हैं। इस प्रक्रिया से भाप शीतल बनकर नली के नीचे रखे बर्तन में मदिरा के रूप में गिरती रहती है। मदिरा निकालने की इस प्रक्रिया को कबीर जैसा संत पुरुष लोक के व्यापक अनुभव के माध्यम से ही जान सका होगा।

इस पद की रचना-प्रक्रिया और महत्व का वास्तविक पता इसकी व्याख्या के द्वारा ही चल सकता है। इसमें कबीरदास कहते हैं कि कोई ऐसा सिद्ध संत है, जो अन्तःकरण में विराजमान स्वाभाविक आनन्द को जागृत कर सके। मैं ऐसे सन्त को दलाली (मध्यस्थ) के रूप में अपने जप तप आदि साधनों को देने के लिए तैयार हूँ। जिस प्रकार मदिरा पिलाने वाली कलाली शराब पिलाकर मतवाला बना देती है, उसी प्रकार यदि कोई संत राम-रस की एक बूँद मुझे दे तो मैं उसका अत्यंत आभारी रहूँगा। मैं उस मदिरा रूपी राम-रस को तैयार करने के लिए कलाली के 'लाहन' (खमीर तैयार करने के लिए) के रूप में अपनी काया देने को तैयार हूँ। उसमें 'गुरु' के शब्द को गुड़ के रूप में डालूँगा। अपने भीतर विद्यमान तृष्णा, काम, क्रोध, मद, मत्सर आदि विकारों को 'कस' (नशे को तेज करने वाले पदार्थ) के रूप में डालूँगा।

शरीर में विद्यमान स्थूल-सूक्ष्म कोशों से भट्टी निर्मित करूँगा और ब्रह्मज्ञानरूपी अग्नि से उस भट्टी को प्रज्ज्वलित करूँगा। प्रेम रूपी मोम से मटके के छिद्र को पूरी तरह अवरुद्ध कर दूँगा। सुषुम्ना नाड़ी (नली) में अनाहत नाद की सहज ध्वनि उत्पन्न होगी और भीतर कपाल-कुहर के झरने में अमृत रस झरेगा। उसी मदिरा को जीवात्मा रूपी राजा पी कर तृप्त हो जाएगा। कोई बिरला ज्ञानी सिद्ध पुरुष ही इस मदिरा के प्रभाव को सहन करने की क्षमता रखता है - इस प्रकार की अभिव्यक्ति कबीर की प्रतिभा और कौशल की परिचायिका है। मसि-कागज न छूने वाले और लेखनी को हाथ न लगाने वाले कवि की यह कौशल क्षमता अद्भुत है।

कुछ करामाती क्रिया

कबीरदास अपनी कविताओं द्वारा कुछ और करामाती कार्य भी करते हैं। वर्णमाला के चौंतीस अक्षरों से वर्णानुक्रम में विविध विषयों पर उन्होंने ज्ञान चौतीसा लिखा है। इसी तरह ब्राह्मणों के चरित्र वर्णन में 'विप्रमति तीसी' की रचना तीस चौपाइयों में की है। इसमें उन्होंने ब्राह्मण समुदाय के हर आन्तरिक और बाह्य दोषों को विस्तार से चित्रित किया है। इसके साथ ही कहरवा (कहार जाति के गीत), बसंत गीत में विभिन्न विषयों पर व्यावहारिक गीत की रचना कबीर की एक निजी विशेषता है। इसमें एक प्रकार से उनकी समाज-समीक्षा है। बसंत गीत में भी उन्होंने यही पद्धति अपनाई है। माया से सम्बद्ध उसका एक उदाहरण है -

बुढ़िया हँसि बौलै मैं नितहि बारि, मोहि अस तरुनि कहौ को नारि।
दाँत गैल मोर पान खात, केस गैल भोर गंग नहात।
नैन गैल मोर कजरा देत, बैस गैल पर पुरुष लेत।
जान पुरुषवा मोर अहार, अनजाने पर करौं सिंगार
कहै कबीर बुढ़िया आनंद गाय, पूत भतारहि बैठी खाय।।

इसका अभिप्राय है कि बुढ़िया माया के रूप नित नौजवान रहने का दावा करते हुए माया के वशीभूत होने वालों का बंटाधार करती रहती है। माया की गर्वोक्ति द्वारा कबीर ने व्यंग्य किया है। इसके बारह पद माया, अहंकार आदि से सम्बद्ध हैं। चांचर चौदह या सोलह मात्राओं की एक ताल है, जिसमें होली के हुड़दंग से संबंधित पद हैं। इसके बाद कबीर ने दो बेलि गीतों को स्थान दिया है। यह एक विशेष राग का गीत है, जिसका अन्त 'रमैया राम' से होता है। इसके बाद एक पद में 'विरहुली' (सांसारिक गीत) और दो पदों में हिण्डोला राग है। इस राग में लौकिक झूले को आधार बनाकर आध्यात्मिक भावना की अभिव्यक्ति की गई है।

7.2.6 अद्वैतवाद में जीव की स्थिति

कबीर अद्वैतवादी थे लेकिन उनका अद्वैतवाद शंकराचार्य से कुछ हटकर पूर्णतः उपनिषदों के अनुकूल है। माया के स्वरूप को स्वीकार करते हुए भी कबीर शंकराचार्य के जीव-जगत को मिथ्या न मानकर यथार्थ मानते हैं। इस संबंध में कबीर की मान्यता है कि 'जल में कुंभ कुंभ में जल है, बाहर-भीतर पानी/फूटा कुंभ जल जलहि समाना, यह तथ कथाँ गियानी' – यहाँ कुंभ घड़ा के फूटने पर उसका जल समुद्र में समा जाता है। लेकिन जल के साथ घड़े का भी अस्तित्व होता है। इसके लिए दूसरा उदाहरण भी लिया जा सकता है –

कस्तूरी कुंडल बसै, मृग ढूढ़ै बन माहिं।
ऐसे घट घट राम है, दुनिया देखै नाहिं।।

अद्वैतियों के ही समान कबीर का विश्वास है कि ब्रह्म से ही समस्त सृष्टि का निर्माण होता है और उसी के माध्यम से उसका स्वरूप नष्ट हो जाता है –

पानी से ही हिम भया, हिम ही गया बिलाय।
कबिरा जो था सो भया, अब कुछ कही न जाय।।

यहाँ 'जो था सो भया' द्वारा जीव और ब्रह्म की अद्वैतता स्पष्ट हो जाती है लेकिन जीव के अलग अस्तित्व का भी यहाँ निषेध नहीं है। जैसे कुम्हार मिट्टी से बर्तन बनाता है तो मिट्टी से भिन्न उसे एक नया अस्तित्व प्रदान करता है फिर भी घड़ा फूटने के बाद मिट्टी में मिल जाता है। वही स्थिति ब्रह्म और जीव की भी है।

कबीर ने माया का वर्णन अद्वैतवादियों की तरह किया है, लेकिन उसके मिथ्यात्व के विषय में वे सांख्य दार्शनिकों के करीब चले जाते हैं। सांख्य के अनुरूप कबीर ने इसे त्रिगुणात्मक – राजस, तामस, सात्विक-माना है। इस इकाई में पहले ही संकेत किया जा चुका है कि माया का ठगिनी, व्यभिचारिणी और डायन का स्वरूप है। वह संसार के प्राणियों को पथ भ्रष्ट करती है –

मुनिवर पीर दिगंबर मारे, जन करता जोगी।
जगत माहि के जंगम मारे, तूँ रे फिरे बलवंती।
बेद पढंता ब्राह्मण मारा, सेवा करता स्वामी।
अरथ करता मिसिर पछाड़्या तूँरे फिरै मैमंती।।
× × ×
दास कबीर राम के सरनै ज्यूँ लागी त्यूँ तोरी।।

ईश्वर के दास ही माया की मार से मुक्त हैं, शेष सभी लोग इसके बन्धन में बंधे हुए हैं। लेकिन संत प्रकृति के लोग माया को दासी बनाकर रखते हैं – 'माया दासी संत की, ऊँची देह असीम।'

7.2.7 जगन्मिथ्या

कबीर ने अधिकांशतः अद्वैतवादियों की तरह 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' को स्वीकार किया है। लेकिन वे जीव के रूप में जगत के अस्तित्व को नाशवान मानकर भी उसकी सार्थकता को स्वीकृति प्रदान करते हैं। यदि ब्रह्म सत्य है तो उसकी कोई निर्मिति नितान्त मिथ्या नहीं हो सकती है। शांकर अद्वैतवाद की स्थापना में आए 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का हिन्दी भक्त कवियों ने जमकर विरोध किया। बंगाल के भक्त चण्डीदास ने 'सबार ऊपरे मानुस सत्य, ताहार ऊपरे नाई ' अर्थात् सबसे ऊपर मनुष्य सत्य है, उसके ऊपर कुछ नहीं है – कहकर जगत की सत्यता पर ही मुहर लगाई है। बंगाल के अधिकांश सगुण भक्त कवियों ने, चैतन्य आदि ने संसार के मिथ्यात्व को स्वीकार नहीं किया। संसार के मिथ्यात्व ही नहीं, वरन शांकर अद्वैत पर भी दक्षिण के ही रामानुजाचार्य ने घोर आपत्ति करते हुए विशिष्टताद्वैत मत की स्थापना की, जिसे तुलसीदास ने हिन्दी कविता के क्षेत्र में प्रतिष्ठित किया। बंगाल के चैतन्य आदि ने द्वैताद्वैतवाद का पक्ष लिया। गुजरात के मध्वाचार्य तो अद्वैतवाद के ऐसे विरोधी निकले कि द्वैतवाद की स्थापना कर डाली। कृष्ण भक्ति के कवियों ने शुद्धाद्वैत को स्वीकृति दी। इस तरह भक्तिकाल में अद्वैतों की भरमार हो गई क्योंकि इससे उपजी 'जगन्मिथ्या' की बात किसी के गले नहीं उतरी। जीवन से उद्भूत होकर जीवन की अपार आकांक्षा के प्रति तीव्र लालसा वाले कबीर जगत को नाशवान मानते हुए भी उसे मिथ्या नहीं मान सकते। उसमें जीव की भ्रमात्मक स्थिति को स्वीकार करते हुए भी उन्होंने जगत को एक नाशवान यथार्थ सत्ता के रूप में स्वीकार किया।

7.2.8 जीव

परमात्मा और जगत पर विचार करते हुए अब हम जीव पर विचार करेंगे। वैसे ब्रह्म और जगत पर विचार करते हुए जीव पर भी पहले विचार किया जा चुका है। मध्यकालीन भक्तों की दृष्टि है कि सम्पूर्ण सृष्टि का निर्माण ब्रह्म द्वारा हुआ है और उसमें रहने वाले जीव या मनुष्य का निर्माण उसी के हाथों से हुआ है। अतः जीव का कर्ता ब्रह्म है, यह कबीर की दृढ़ मान्यता है। लेकिन इस संबंध में कुछ बातें मध्यकालीन कवियों से भिन्न भी कबीर में मिलती हैं। कबीर का मानना है कि यदि सभी जीवों की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई तो उन्हें बराबरी का दर्जा दिया जाना चाहिए। लेकिन शंकराचार्य अद्वैत दर्शन का प्रतिपादन करने के बाद इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि अद्वैत दर्शन केवल आध्यात्मिक दर्शन तक सीमित है। इसे समाज पर लागू नहीं किया जा सकता। अपनी मान्यता की पूर्ति के लिए उन्हें अलग से लिखना पड़ा कि वर्ण एवं जाति-पाँत की व्यवस्था गौतम शास्त्र और मनुस्मृति में निर्धारित की गई है, जो ईश्वरकृत हैं। अतः वर्णाश्रम, जाति-पांत का विरोध ईश्वर इच्छा का विरोध है, जो जघन्य पाप है। कबीर ने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्होंने भी ईश्वर के नाम पर ही वर्ण व्यवस्था और जाति-पाँत की समाप्ति और सभी मनुष्यों की समानता का सिद्धांत प्रतिपादित किया। लेकिन उनके समय में इसे मान्यता नहीं मिली, जिस पर उन्होंने ब्राह्मणवादी वैचारिकता का खंडन किया। शास्त्रों का एक मात्र अध्येता होने के कारण ब्राह्मणों ने कर्मफल, पुनर्जन्म के झूठे बहकाओं में निम्न जातियों को यह बताया कि इस जन्म अच्छे कर्म करके अर्थात् उच्चवर्गों की सेवा करके वे अगले जन्म में ब्राह्मण के घर में जन्म पा सकते हैं। जीव की उत्पत्ति के सिद्धांत में यह एक प्रतिगामी या प्रतिक्रियावादी सिद्धांत था। इसे निम्न जातियों को स्वीकार करना पड़ा, जिससे कबीदास अत्यंत विचलित हुए। उन्होंने विस्तार के साथ इस मिथ्या प्रचार का खंडन किया।

उदाहरण – एक बूँद एक मल मूतर एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति ते सब जग उपजा को बामन को सूदा।।

वे यह भी स्पष्ट रूप से कहते थे कि ब्राह्मण जगत का गुरु होगा किन्तु संतों का गुरु वही नहीं है –

'बामन गुरु है जगत का मंगतन का गुरु नाहिं।'

उनका सामाजिक–आचार विचार, धार्मिक मान्यताएं तुलसीदास आदि सगुणवादियों से नितान्त भिन्न रही हैं।

7.3 कबीर की उलटबासियाँ

कबीरदास की उलटबासियों को देखते हुए आश्चर्य होता है कि उन्होंने उलटबासियों की रचना क्यों की। जहाँ तक परम्परा का प्रश्न है कबीरदास परम्परा विरोधी रहे हैं। इन उलटबासियों के अर्थ कतिपय लोगों ने किए हैं, लेकिन उनमें भी अर्थ का अनर्थ मिलता है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने अपने 'कबीर' शीर्षक ग्रंथ में संक्षेप में उलटबासियों पर भी विचार किया है। इस प्रक्रिया में उन्होंने कुछ उलटबाँसियों के अर्थ भी दिए हैं लेकिन अधिकतर उन्हें समझने की विधि पर ही प्रकाश डाला है।

1. 'बरसै कम्बल, भीजै पानी।'
2. 'नैया बिच नदिया डूबी जाए।'
3. 'बैल बियायल गैया बाझै।'
4. 'एक अचरज मै आउर देखा बिटिया ब्यायी बाप।'

इस प्रकार उक्तियों में चमत्कार अधिक दिखाई पड़ता है। इन्हें समझना जटिल है।

7.4 कबीर का रहस्यवाद

अद्वैतवादी के लिए रहस्योन्मुख होना स्वाभाविक है। कबीरदास एक अगम-अगोचर ब्रह्म के लिए लालायित थे अतः उनमें रहस्यवाद स्वयमेव आ जाता है।

अंखड़ियाँ झाई परी पंथ निहारि निहारि।
जीभड़िया छाला पर्‌यौ नाम पुकारि पुकारि।।

अपने प्रिय के मुख को देखने के लिए कबीर की व्याकुलता उनकी रहस्य दृष्टि का उद्‌घाटन करती है –

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूँ जीव।
लोही सीच्यों तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव।।

कबीर के अनुसार, कठोर साधना से ही प्रिय की प्राप्ति हो सकती है –

हँसि हँसि कन्त न पाइया, जिन पाइया तिन रोइ।
जो हाँसे ही हरि मिले, तो नहीं दुहागिनि कोइ।।

कबीरदास के लिए अगम्य प्रियतम के रूप का वर्णन भी संभव नहीं लगता। इस संबंध में उनकी मान्यता है –

पार ब्रह्म के तेज का कैसा है उनमान।
कहिबे की सोभा नहीं, देख्या ही परवान।।

इस तरह की तमाम उक्तियाँ कबीर के रहस्यवाद को उद्‌घाटित करती हैं।

7.5 कबीर की कविता में सामाजिक दृष्टिकोण

कबीरदास मध्य युग के अंधकारमय वातावरण में अपना ज्ञानदीप लेकर अवतरित हुए थे। तत्कालीन समाज में आचार-विचार, संस्कृति, धर्म आदि क्षेत्र में खाई बढ़ती जा रही थी। एक तरफ हिंदू-मुसलमान का वैमनस्य था दूसरी ओर ऊँच-नीच, सवर्ण-अवर्ण के भेद से सारा समाज ग्रस्त था। ब्राह्मण समुदाय के पास उच्चता का एक तथाकथित आदर्श और ठेकेदार बनकर बाह्याचार की कर्मकाण्डी प्रवृत्तियाँ थीं, जिन्हें वह समूची जनता पर थोप रहा था। समाज में असमानता बढ़ती जा रही थी। कबीर ने सामाजिक असमानता को रोकने का पूरा प्रयास किया। वे समाज और धर्म की समूची विकृतियों को निकाल फेंकना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने विभेदकारी ब्राह्मणवादी प्रवृत्तियों को सर्वाधिक घातक समझकर उस पर करारी चोट की। इसके लिए 'जो तू ब्राह्मण, ब्राह्मणी जाया, आन बाट ह्वै - क्यों नहिं आया' कहकर ही संतोष नहीं कर लिया। उन्होंने ब्राह्मणों के प्रपंच को खोल कर सामने रखा है –

काहे को कीजै पाण्डे छोति विचार।
छोतहि ते उपजा संसार।
हमरे कैसे लोहू तुम्हरे कैसे दूधा।
तुम कैसे ब्राह्मण पाण्डे हम कैसे सूदा।
छोति छोति करत तुम्ह ही जाए।
तो गरभवास काहे को आए।।

इसके साथ-साथ कबीर ने हिन्दुओं और मुसलमानों के मध्य भेदभाव और वैमनस्य की खाई को भी पाटने का प्रयास किया है।

ना जाने तेरा साहिब कैसा है?
मसज़िद भीतर मुल्ला पुकारै, क्या साहिब तेरा बहरा है।
चिंउँटी के पग नेउर बाजै, सो भी साहब सुनता है।
पंडित होय के आसन मारे, लम्बी माला जपता है।
अंदर तेरे कपट कतरनी, सोभी साहब लखता है।

दोनों पक्षों की निडर और निष्पक्ष आलोचना करते हुए कबीर ने एक तरफ हिंदू की पत्थर पूजा की खिल्ली उड़ाते हुए 'पत्थर पूजे हरि मिले तो मैं पूजूँ पहार' कहा है तो दूसरी तरफ मुसलमानों की खिल्ली भी उड़ाई है –

1. कंकड़ पत्थर जोरि के मसजिद लई बनाय।
   ता पर मुल्ला बाँग दे क्या बहरा हुआ खुदाय।।
2. जो रे खुदा मसीत बसतु है और मुलु कहि केरा।
   हिन्दू मूरति राम निवासी, दुहुमति तत्तु न हेरा।।
3. वैस्नो भया तो क्या भया, बूझा नहीं विवेक।
   छापा तिलक बनाई कै दग्ध्या लोक अनेक।।

लोगों के मध्य सहज उपासना का महत्व प्रतिपादित करते हुए कबीर ने साधकों के लिए प्रशस्त मार्ग दिखाया –

सहज सहज सबही कहै, सहज न चीन्है कोय।
जो कबीर विषया तजै, सहज कही जै सोय।।

इस प्रकार कबीर ने समाज की समूची सामाजिक-धार्मिक विकृतियों से लोगों को बचे रहने की सीख दी। इससे स्पष्ट है कि कबीर ने मध्ययुग के भक्ति आन्दोलन में वैचारिक क्रांति का बिगुल बजाया।

कवि नामदेव के बाद निर्गुण पंथ के संस्थापक उत्तर भारत में कबीर ही हैं। आज के संदर्भ में उनकी धार्मिक-अध्यात्मिक दृष्टि का चाहे कम महत्व हो, लेकिन सामाजिक दृष्टि से उसका क्रांतिकारी महत्व है। सामाजिक दृष्टि से कबीर का सर्वाधिक महत्व इस बात में है कि उन्होंने अपने युगीन के समाज में फैली विषमता को दूर करने का प्रयास किया है। वे जिस प्रकार के परिवार में पालित-पोषित हुए थे, उसमें उन्हें तत्कालीन विषमता और क्रूरता का विषपान करना पड़ा था। मुक्तयोगी होने के कारण उनमें जो निर्भीकता और ताज़गी मिलती है, वह परवर्ती संत साहित्य में बहुत कम देखने को मिलती है। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने उत्तर भारत में जो निर्गुणमत की स्थापना की उसमें आगे चलकर कबीर जैसी निम्न जातियों के तमाम कवि अस्तित्व में आए। उनके प्रभाव से निर्गुण साधकों की एक लम्बी कतार पैदा हुई, जिसमें नाई, धोबी, दर्जी, रैदास, बुनकर जैसी निम्न जातियों ने समाज के सम्मुख अपने अस्तित्व को ही उजागर नहीं किया, वरन् उच्च जातीय लोगों के सम्मान के भी पात्र बने। हिंदी साहित्य के इतिहास में यह पहली घटना है, जिसका ऐतिहासिक महत्व है। इसके पीछे कबीरदास की प्रेरणा को ही सर्वाधिक महत्व दिया जा सकता है।

कबीर की महत्ता को उद्घाटित करने वाली एक उक्ति है –

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद
परगट किया कबीर ने सप्त दीप नौ खण्ड।

चौथी-पाँचवी सदी में द्रविड़ क्षेत्र में उत्पन्न होने वाली भक्ति को रामानुजाचार्य द्वारा और उदार बनाने के बाद उनकी परम्परा में आने वाले रामानंद उसे हिंदी क्षेत्र में ले आए। उनके शिष्य या उनकी परम्परा में आने वाले कबीरदास ने सप्तदीप-नौखण्ड जैसे विस्तृत क्षेत्र में उसे प्रसारित किया। यह उक्ति बहुत नयी नहीं है, जो इस तथ्य को प्रमाणित करती है कि महाराष्ट्र के नामदेव के बाद कबीर ने ही इसे विशद और विस्तृत क्षेत्र प्रदान किया। पूरी गरिमा के साथ निर्गुण भक्ति को उत्तर भारत में प्रसारित करने का श्रेय कबीर को है। द्राविड़ भक्ति रामानुजाचार्य तक सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में प्रचलित थी, बल्कि उसका सगुण रूप ही अधिक मान्य और प्रभावशाली था। रामानंद ने उसमें किंचित सगुण का समावेश किया था। लेकिन सम्पूर्ण निर्गुण भक्ति को श्रेष्ठता प्रदान कर उसे सगुण भक्ति से भी अधिक महत्ता दिलाने में कबीर की अद्वितीय भूमिका थी। कबीर से पूर्व उत्तर भारत में सगुण भक्ति स्थित अवश्य थी, लेकिन वह अधिक मुखर और व्यापक नहीं थी। विद्यापति और संस्कृत के जयदेव जैसे कवि इसका संकेत देते हैं लेकिन मन्दिरों में होने वाला पूजा-विधान सगुण भक्ति का ही परिचायक था। समाज में दशरथ राम और देवकी-वसुदेव के पुत्र कृष्ण को भगवत्ता मिल चुकी थी। साधारण जनता में इस भावधारा का प्राधान्य रहा होगा तभी कबीर को इतने जोर-शोर से निराकार निर्गुण भक्ति का पक्ष लेना पड़ा होगा। इस समय सगुण-भगवान के सभी रूपों का खण्डन करने की जरूरत भी कबीर को महसूस हुई होगी।

एक आन्दोलन के रूप में उत्तर भारत में निर्गुण भक्ति का आगमन पहले हुआ। सगुण साकार की भक्ति उसके बाद अस्तित्व में आई। पुराण समर्थित कृष्ण के इस रूप की प्रतिष्ठा आचार्य वल्लभ और उनके प्रमुख अनुयायी सूरदास ने इसमें शुद्धाद्वैत के सख्य भाव की उपासना के द्वारा की। अपने भ्रमरगीतों के माध्यम से सगुण के समर्थन और निर्गुण के विरोध में उन्होंने इसकी आवाज उठाई। लेकिन कबीर की जाति-पाँति विरोधी मान्यताओं की प्रतिक्रिया उनमें कहीं नहीं दिखाई देती। कबीर अपने समय से बहुत आगे थे यही वजह है कि आज के सामाजिक परिवेश में कबीर हमें अपने अधिक निकट दिखाई देते हैं। 'कबीर ना हिन्दू ना मुसलमान' के रूप में मनुष्यता का अधिक परिचय देते हैं। उनकी कविता में समानता, स्वाधीनता, बंधुत्व जैसे आधुनिक मूल्य सघनता से दिखाई पड़ते हैं।

7.6 सारांश

कबीर की कविता में दर्शन शीर्षक इस इकाई का अध्ययन करने के बाद अब आपः

- शंकराचार्य और कबीर के 'अद्वैतवाद' में अंतर कर सकते हैं;
- कबीर के सामाजिक दर्शन या सामाजिक चिंतन पर पड़े प्रभावों को उद्घाटित कर सकते हैं;
- कबीर के 'ब्रह्म' की विशेषताओं का निरूपण कर सकते हैं; और
- कबीर के 'आत्मदर्शन' को विवेचित कर सकते हैं।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

7.7 अभ्यास प्रश्न

1. कबीर की कविता में निहित दार्शनिक पक्षों का विवेचन कीजिए।
2. कबीर की उलटबासियों की विशेषताएं बताते हुए उसमें निहित व्यंग्य का विश्लेषण कीजिए।
3. कबीर के रहस्यवादी चिंतन पर विचार कीजिए।
4. कबीर की कविता में व्यक्त सामाजिक–दृष्टिकोण की चर्चा करते हुए उनके चिंतन की प्रासंगिकता स्पष्ट कीजिए।

7.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी
- कबीर वाणी : डॉ. पारस नाथ तिवारी
- कबीर वाड्ग्मय (खंड 1, 2) : डॉ. जयदेव सिंह, वासुदेव सिंह
- कबीर ग्रंथावली; अशोक प्रकाशन, नई सड़क, दिल्ली–6

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 8 कबीर की सामाजिक मान्यताएँ

इकाई की रूपरेखा

8.0 उद्देश्य

8.1 प्रस्तावना

8.2 मध्ययुगीन समाज और कबीर
  8.2.1 राजनीतिक स्थिति
  8.2.2 धार्मिक स्थिति
  8.2.3 आर्थिक स्थिति

8.3 वर्ण और वर्ग

8.4 कबीर का सामाजिक-वर्णगत और वर्गगत विद्रोह

8.5 नारी की स्थिति तथा कबीर का उसके प्रति दृष्टिकोण

8.6 बुराई और विषमता के बरक्स सामाजिक साम्य और प्रेम-भाव

8.7 सारांश

8.8 अभ्यास प्रश्न

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

8.0 उद्देश्य

कबीर के विशेष अध्ययन की यह आठवीं इकाई है। इस इकाई को पढ़ने के बाद आप :

- कबीर के युग की सामाजिक मान्यताओं तथा सामाजिक स्थितियों को जान पाएँगे;
- समाज को प्रभावित करने वाले अनुशासनों की परख कर सकेंगे;
- वर्ण-व्यवस्था और वर्ग-व्यवस्था का स्वरूप और उसपर कबीर की प्रतिक्रिया को रेखांकित कर सकेंगे;
- कबीर की सामाजिक मान्यताओं का आकलन तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में कर सकेंगे; तथा
- कबीर के सामाजिक साम्य और मानवीय प्रेम की संवेदना की विस्तार भावना को समझ सकेंगे।

8.1 प्रस्तावना

कबीर की सामाजिक मान्यताओं के विभिन्न आयामों पर इस इकाई के अंतर्गत विचार किया गया है। मध्ययुगीन समाज की समझ के बिना कबीर के सामाजिक विचारों अथवा मान्यताओं की समझ नामुमकिन है। कबीरदास मूलतः भक्त थे किंतु उनकी वाणियों के विस्तृत अध्ययन से इस बात का पता चलता है कि वे भक्त तो जरूर थे, किन्तु समाज से पराङ्मुख होकर किसी भी साधना को सार्थक नहीं मानते थे। वे इस बात का

प्रत्याख्यान नहीं करते कि साधना के लिए घर-बार छोड़ देना चाहिए और एकान्त भाव से वन में जाकर तपस्या करनी चाहिए। वे एकान्त साधक नहीं; बल्कि समूह-साधक थे। व्यक्तिगत साधना के माध्यम से वे सामाजिक साधना की यात्रा तय करते हैं। वे हाथ में ज्ञान की लुकाठी लेकर समाज को नया मार्ग दिखाना चाहते थे। सम्प्रदायवाद की सीमाओं को या कम-से-कम उसकी संकीर्णताओं को वे दूर करना चाहते थे। इसके लिए उन्होंने कोई सांगठनिक 'सम्प्रदाय' नहीं चलाया – यह और बात है कि उनके नाम पर एक विशाल सम्प्रदाय खड़ा हुआ, जिसमें वे बहुत सी बातें प्रविष्ट हो गई जिनका उन्होंने खुद विरोध किया था। ऊँच-नीच, वर्ण-वर्ग, अमीर-गरीब और शोषण तथा सामाजिक विषमता के प्रतिघोर प्रतिरोध जताते रहे। वे अपने समय के समाज से कटकर किसी ऐकान्तिक साधना में संलग्न नहीं रहे और इसीलिए समाज की अगतिशील, सड़ी-गली मान्यताओं का उन्होंने जबर्दस्त विरोध किया या उसके प्रति उपेक्षा का भाव अपनाया। उनका समाज-दर्शन विभिन्न आयामों में नवीनता लिए हुए था जो किसी भी विचार-सरणि में नहीं समा सकता। वह स्वायत्त और स्वतंत्र था। वह अनुभव की व्यापक आँच में पका हुआ था, इसीलिए आज भी उतना ही जीवंत बना हुआ है जितना अपने समय में रहा होगा।

8.2 मध्ययुगीन समाज और कबीर

भारतीय इतिहास में मध्ययुग का कई दृष्टियों से विशेष महत्व है। सामाजिक-सांस्कृतिक दृष्टि से मध्यकाल का स्वरूप वैविध्यपूर्ण रहा है। एक ओर साहित्यिक दृष्टि से इस काल में अनेक मानक ग्रंथों का निर्माण हुआ और उसके माध्यम से लोकचेतना की अभिव्यक्ति हुई तो दूसरी तरफ सामान्य जन, शोषण और अशिक्षा का शिकार रहा। वास्तव में, मध्ययुगीन समाज विभिन्न अनुशासनों में बिखराव की स्थिति में था। चाहे धर्म हो, राजनीति हो अथवा उसका आर्थिक ढाँचा हो।

मध्ययुगीन समाज की बाह्य परिस्थितियाँ भी सर्वथा अनुकूल नहीं थीं। आंतरिक बिखराव और अंतर्विरोध के कारण संघर्ष की स्थिति बनी रहती थी। परस्पर स्नेह, सद्भाव और सहयोग का स्थान वैर, विरोध और विद्वेषपूर्ण वातावरण ने ले लिया था।

मध्ययुगीन समाज में अनेक तरह की समस्याएँ थीं। राजनीतिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो अस्थिरता और भय का वातावरण बना हुआ था; धर्म के क्षेत्र में पाखंड और अंधविश्वास ने घर कर लिया था और आर्थिक विषमता ने तो जनता की कमर ही तोड़ दी थी। आगे हम इस पर विचार करेंगे कि किस प्रकार कबीरदास ने आर्थिक विषमता के प्रति असंतोष अथवा प्रतिरोध प्रकट किया है।

मध्ययुगीन समाज का गठन सामंती ढाँचे पर हुआ था। उसमें उस समय का सुल्तान प्रायः स्वेच्छाचारी होता था। उसकी सहायता के लिए अनेक सामंत और उच्च शासकीय वर्ग होता था। उन्हें विशेष अधिकार एवं सुविधाएँ प्राप्त थीं। इन अमीरों का जीवन जन साधारण के जीवन से नितान्त भिन्न था। भोग-विलासमय था। आम जनता का इन सामंतों और अमीरों के भोग-विलास की सामग्री जुटाने में ही जीवन समाप्त हो जाता। दरअसल जिस समाज में कबीर का आविर्भाव हुआ था, वह समाज विभिन्न आयामों में बिखरा हुआ था। सामाजिक दृष्टि से ऊँच-नीच, अवर्ण-सवर्ण, हिंदू-मुस्लिम, अनेक प्रकार की भेद-दृष्टि काम कर रही थी। स्वयं कबीरदास जिस जाति में पालित हुए थे उसे समाज में कोई अच्छा स्थान प्राप्त नहीं था। यह और बात है कि कबीरदास उस जुलाहा जाति में भी रहकर ठोस आत्मविश्वास के साथ जी रहे थे। इसका कारण यह भी था कि बेशक उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी किंतु उन्हें खाने-पीने के लिए भीख माँगने की जरूरत नहीं थी। वे श्रमशील वर्ग से थे। इससे पहले कि हम कबीरदास के समाज-चिंतन पर विचार

करें, यह आवश्यक है कि मध्ययुगीन समाज को प्रभावित करने वाले कारणों पर विचार कर लें। इसके लिए आवश्यक है कि हम उस समय की राजनीतिक, धार्मिक-आर्थिक स्थितियों के साथ वर्ण-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था और वर्ग-व्यवस्था पर बहुत संक्षेप में विचार करें, क्योंकि ये कारक ही कबीरदास की सामाजिक मान्यताओं को प्रभावित करते हैं।

8.2.5 राजनीतिक स्थिति

कबीर के आविर्भाव के बहुत पूर्व ही भारत की राजनीतिक स्थिति बिगड़ चुकी थी। देश पर मुस्लिम शासन कायम होने लगा था और शंकराचार्य के शब्दों में 'देश म्लेच्छाक्रांत' हो गया था (म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु)। पहले के आक्रांता तो लूटपाट कर स्वदेश चले गए, किन्तु धीरे-धीरे स्थिति का लाभ उठाकर कुछ आक्रांताओं ने यहां अपना शासन स्थापित ही कर लिया।

कबीर का समय मुख्यतः तैमूर लंग से लेकर सिकंदर लोदी के काल तक व्याप्त है। प्रसिद्ध है कि ये दोनों अपने समय के अत्याचारी शासक थे। स्वयं कबीरदास के संदर्भ में ऐसी धारणा है, कि एक बार सिकंदर लोदी ने उन्हें जंजीर में बँधवा कर गंगा में फिकवा दिया था, किंतु वे अपने आत्म-बल और साधना-बल से बच गए। कबीर-वाणी में इस आशय का एक पद भी प्राप्त होता है —

> गंगा गुसाइनि गहिर गंभीर । जंजीर बाँधि करि खरे कबीर ।
> गंगा की लहरि मेरी टूटी जंजीर । मृगछाला पर बैठे कबीर ।।

कहते हैं इस पर भी काजी नहीं माना और उसने सुलतान की आज्ञा से कबीर पर मदमस्त हाथी छुड़वाया; किन्तु कबीर के समीप पहुँचकर हाथी ने उन्हें नमस्कार किया और चिंघाड़ता हुआ खड़ा हो गया। एक अन्य पद में कबीरदास ने शायद इसी ओर संकेत किया है -

> कहा अपराध संत हौं कीन्हा, बाँधि पोट कुंजर कूँ दीन्हा।
> कुंजर पोट बहु बंदन करै, अजहूँ न सूझै काजी अँधरै ।।

आचार्य चन्द्रबली पांडे का मत है कि वास्तव में सिकन्दर लोदी के अत्याचार से पीड़ित होकर ही कबीर मगहर चले गए थे। वे लिखते हैं "उस समय काशी में कट्टर सुल्तान सिकन्दर लोदी की दुहाई थी और कबीर अपनी खरी जिह्वा के कारण उसके चित्त पर चढ़ चुके थे। अस्तु, कबीर के मगहर-वास का मूल कारण था तन-ताप, जो सिकंदर लोदी की ओर से प्राप्त हो रहा था और जो मगहर जाने से नष्ट हो गया।" (विचार—विमर्श, चन्द्रबली पांडे, पृ.13—14) कबीर को तन-ताप के कारण मगहर जाना पड़ा हो अथवा धार्मिक आडम्बरों या पाखंड का विरोध करने के लिए, वे काशी से मगहर गए होंगे — यह कोई उतनी महत्वपूर्ण बात नहीं जितना कि इस बात के संकेत महत्वपूर्ण हैं कि आक्रांताओं अथवा शासकों के किस प्रकार के अत्याचार जनता पर होते थे। यह बात तो तय है कि कबीरदास अपनी घर फूँक मस्ती और खरेपन के कारण किसी के कोपभाजन हो सकते थे। उनके जैसा साधक ही हिंदू-मुसलमान, अमीर-गरीब सबकी खबर ले सकता है। जो 'ना हिंदू-ना-मुसलमान हो', जिसकी किसी से दुश्मनी और दोस्ती न हो, जो सबके खातिर अपना घर जलाता हो, उसे भी शासकीय दुःख झेलना पड़ा हो तो यह इस बात का संकेत है कि हमें आम जनता की दशा की कल्पना स्वतः कर लेनी चाहिए। आगे चलकर हम इस बात का भी संकेत करेंगे कि किस प्रकार कबीरदास शासक वर्ग के अनाचारों का उल्लेख करते हैं।

8.2.2 धार्मिक स्थिति

कबीरदास जिस समय और समाज की उपज हैं वह कोई बहुत स्वस्थ समाज नहीं था। नाना प्रकार के अनाचार, पाखंड, आडम्बर, अंधविश्वास और बाह्याचारों से ग्रस्त समाज था। अनेक प्रकार के मत मतान्तर थे, जिनमें आपस में किसी प्रकार का न तो तालमेल था और न सौहार्द । हिंदू और इस्लाम दो ही धर्म उस समय विशेष केंद्र में थे। इन दोनों ही धर्मों में निरन्तर टकराहट की स्थिति बनी रहती थी। यद्यपि इन दोनों धर्मों का उद्देश्य परमात्मा की साधना था किन्तु उनमें इतना अधिक आडम्बर और पाखंड का प्रवेश हो चुका था कि धर्म का सही अर्थ लुप्त हो गया था और उसका सतही अर्थ सामने रह गया था। कबीरदास ने हिन्दुओं और मुसलमानों– दोनों की ही धार्मिक स्थितियों की अच्छी आलोचना की है।

धर्म साधनाओं के क्षेत्र में बौद्ध-जैन साधनाओं के साथ ही मध्यकाल में सूफ़ी साधना का भी महत्वपूर्ण स्थान है। नाथों और योगियों की साधनाओं के साथ ही शैव और शाक्त-साधना का व्यापक प्रभाव देखने को मिलता है। नाथ-सिद्धों की बानियों में सामाजिक-धार्मिक सुधारों के प्रयास परिलक्षित होते हैं। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने लिखा है ''लोकजीवन में जो धार्मिक चेतना पूर्ववर्ती सिद्धों से आकर उसके पारमार्थिक उद्देश्य से बिल्कुल विमुख हो रही थी उसे गोरखनाथ ने प्राणशक्ति से अनुप्राणित किया। नाथ-सम्प्रदाय में पुस्तकीय ज्ञान तथा अन्य धार्मिक-सामाजिक बाह्याचारों की निरर्थकता साबित की गई। (नाथ संप्रदाय, हजारी प्रसाद द्विवेदी) धार्मिक आडम्बरों पर स्वयं गोरखनाथ ने नहीं, बौद्ध सिद्ध सरहपा ने भी प्रहार किया है। यज्ञ की आडंबरपूर्ण प्रथा पर प्रहार करते हुए कहते हैं –

'कज्जे विरहअ हुवअह हुम्मे, अक्खि डहाविअउ कडुवे धुम्मे ।'

– (राहुल सांकृत्यायन, दोहाकोश)

अर्थात् यज्ञ करने से पता नहीं मोक्ष मिलता है अथवा नहीं, किन्तु आँखों को धुआँ जरूर लगता है।

कबीर के समय में प्रचलित धर्म-सम्प्रदायों में सूफ़ी साधना का विशेष महत्व है। धर्म की आडम्बर पूर्णता का त्याग कर ये सहज जीवन के क़ायल हैं और मानवीय प्रेम का संचार करना ही इनका एकमात्र लक्ष्य है। हिंदी के सूफी कवियों ने हिंदू-मुस्लिम ऐक्य का प्रयास किया। सूफ़ी मत का इस्लाम से घनिष्ठ सम्बन्ध अवश्य है किन्तु वे बाह्याचार की अपेक्षा आंतरिक शुचिता पर बल देते हैं। उनका मानना है कि धार्मिक सिद्धांतों का सत्य के साथ सामंजस्य होना चाहिए। जायसी आदि कवियों में धार्मिक कट्टरता का अभाव है किंतु परवर्ती कवियों में यह भाव नहीं दिखाई देता।

इस्लाम की बढ़ती हुई शक्ति और धर्मान्धता के कारण धर्म का स्वरूप बहुत कुछ विकृत हो गया। यहाँ तक कि समाज में बहुत से लोग तलवार के बल पर मुसलमान बनाए गए और कुछ ने सामाजिक स्थिति से परेशान होकर इस्लाम को स्वीकार कर लिया था। दूसरी तरफ मुसलमानों के आगमन के साथ ही हिंदू धर्म में आचार प्रवणता और बढ़ गई और तीर्थ,व्रत, उपवास इत्यादि का प्रसार बढ़ता ही गया। इस प्रकार हिंदू धर्म में भी अनेक प्रकार की विकृतियों का समावेश हो गया। कबीरदास धार्मिक पाखंड और उसके सामाजिक दुष्प्रभाव अथवा ध्वंसक रूप पर प्रहार करते हैं।

8.2.3 आर्थिक स्थिति

मध्ययुगीन समाज सामंती ढाँचे पर आधारित था। चौथी-पाँचवी शताब्दी के मध्य ही भारतीय समाज में सामंती व्यवस्था को स्थायी आधार मिलने लगा था। तेरहवीं, चौदहवीं सदी तक

आते-आते तो यह अपनी चरम सीमा पर जा पहुँचा। व्यापार के व्यापक प्रसार के कारण सामंती समाज का आर्थिक स्वरूप पूँजीवाद और उत्पादन-पद्धति पर आधारित हो जाता है। सामंती पूँजीवादी सभ्यता में वस्तुओं का उत्पादन खाने-पीने के लिए नहीं, अपितु खरीदने-बेचने के लिए होता था। अर्थ की दृष्टि से उत्पादन का स्रोत जमीन होती थी और जिस पर अधिकार जमींदारों का होता था। किसान और मजदूर जमींदारों की भूमि पर खेती करते थे और उसका नियतांश भूस्वामी को देते थे। लेकिन किसानों की सबसे बड़ी विडम्बना यह होती थी कि अकाल और दुर्भिक्ष के समय भी उन्हें लगान और भूस्वामी का नियतांश देना पड़ता था। उसके न चुकाने पर जमीन छीन ली जाती थी। कबीरदास का एक पद है जिसमें इस दारुण स्थिति का मर्मस्पर्शी चित्र प्रस्तुत किया गया है –

> अब न बसौं इहि गाउँ गुसाईं।
>
> ×　　×　　×
>
> गाँइ कु ठाकुर खेत कुनापै, काइथ खरच न पारै ।
> जोरि जेवरी खेति पसारै, सब मिलि मोकों मारैं हो राम ।।

कबीरदास का यह पद मध्ययुगीन समाज की आर्थिक स्थिति को तो स्पष्ट करता ही है इसके साथ ही व्यवस्था की निर्ममता का भी बयान करता है। एक तरफ सामंती वैभव-विलास और दूसरी तरफ सूखा, दुर्भिक्ष, अनावृष्टि और प्राकृतिक आपदाओं के विभिन्न रूपों को झेलता हुआ किसानों का जीवन। कबीर के इस पद की दार्शनिक-आध्यात्मिक व्याख्याएँ भी की गई हैं जो एक सीमा तक सही हो सकती हैं। किन्तु उसमें उस समय के समाज का ठोस यथार्थ अनुस्यूत है; इस बात से इनकार नहीं किया जा सकता। एक अन्य पद में भी कबीरदास ने संकेत किया है कि किस प्रकार गाँव का जमींदार मजदूरों-किसानों से बेगार करवाता था। पगार तक नहीं देता था –

> जनम अनेक गया अरु आया। की बेगारि न भाड़ा पाया।

प्रो. रामशरण शर्मा ने लिखा है "बिना कोई पारिश्रमिक दिए कृषक स्त्रियों से तरह -तरह के काम लिए जाते थे – जैसे, उन्हें गाँव के प्रधान के धान्यागार में अन्न रखना पड़ता था, उनके घर में सफाई और सजावट करनी पड़ती थी। उनके खेतों में काम करना पड़ता था। रुई, ऊन, पटुए एवं सन से उनके कपड़े के लिए सूत कातना पड़ता था।" (भारतीय सामंतवाद, प्रो. रामशरण शर्मा)

मध्यकाल में किसानों और कामगारों की स्थिति दयनीय थी, इस बात के संकेत अनेक इतिहासकारों ने दिए हैं। प्रो. इरफ़ान हबीब ने लिखा है कि 'वे धन के अभाव में अपने बीज एवं मवेशियों के लिए कर्ज लिया करते थे तथा राजस्व की माँग को पूरा करने के लिए भी कर्ज लेते थे।' (मध्यकालीन भारत, इरफान हबीब) इसके अतिरिक्त किसानों के साथ गुलामों का-सा व्यवहार किया जाता था। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि कबीर के समय का जो अर्थतंत्र था उसमें जन सामान्य की स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। खासकर, किसान वर्ग को अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ता था। कबीर में जो आक्रामक तेवर का भाव दिखलाई पड़ता है, उसके मूल में समाज का ऐसा ढाँचा मौजूद था जिसमें कोई भी संवेदनशील व्यक्ति या तो आक्रोश व्यक्त करेगा अथवा विद्रोह करेगा।

8.3 वर्ण और वर्ग

वर्ण और वर्ग की व्यवस्था से निर्मित भारतीय मध्ययुगीन समाज के स्वरूप पर विचार किए बिना कबीर की सामाजिक मान्यताओं का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं किया जा सकता। डॉ. रामविलास शर्मा का मानना है कि वर्ण-व्यवस्था मध्यकाल से बहुत पूर्व ही ऋग्वेद के

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

दसवें मण्डल से ही प्रकट होने लगती है। अतः यह भारतीय समाज की प्राचीनतम संस्था है।

यद्यपि बौद्ध एवं जैन चिंतन ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया और एक सीमा तक इसके व्यवस्थित ढाँचे को प्रभावित भी किया किन्तु इसकी जड़ें इतनी गहरी थीं कि आधुनिक कहे जाने वाले समाज में भी बहुत बाद तक इसका प्रभाव देखा गया।

आरंभ में वर्ण-व्यवस्था कर्म पर आधारित थी। गीता में स्वयं कृष्ण ने कहा है कि ये चारों वर्ण मैंने ही बनाए हैं और इसके भेद भी मैंने उन वर्णों के क्रमानुसार किया है —

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं, गुणकर्म विभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां, विद्धय कर्तारम व्ययम् ।।

किंतु कालान्तर में भारतीय समाज में वर्ण-व्यवस्था का ऐसा स्वरूप विकसित हुआ कि यह जन्मना हो गया और क्रमशः इसका स्वरूप जातिगत भेदोपभेदों में निहित हो गया। नाना प्रकार की जातियों का निर्माण हुआ और कुछ कारणों से जातिगत समाज ने एक वर्गीय स्वरूप धारण किर लिया। डॉ. के. दामोदरन ने अपनी पुस्तक भारतीय चिंतन परम्परा में लिखा है ''सामाजिक विकास के काफी बाद की दशा में चारों वर्णों का वर्गों के रूप में विभाजन हुआ, अर्थात् उस अवस्था में जब उत्पादक शक्तियों में और अधिक वृद्धि हो गयी और आर्थिक ढाँचे में परिवर्तन हुआ।' वास्तव में वर्ण केवल किसी श्रम में विशेष निपुणता प्राप्त करते और उत्पादन के गुणों में वृद्धि तथा सामाजिक संगठन के रूपों को उन्नत करते थे। किंतु जब विनिमय, व्यापार, निजी सम्पत्ति और धन की उत्पत्ति हो गई तब अपनी वर्ण-स्थिति के अनुसार प्रत्येक परिवार ने अपनी निजी सम्पत्ति और अधिकारों का निर्माण कर लिया। स्वभाव से ही जिन वर्णों का सम्बन्ध युद्ध, विनिमय और उत्पादन के संचालन से था वे समाज में आर्थिक रूप से प्रभुत्वशाली वर्ण हो गए और इसी प्रक्रिया में वर्ण-वर्ग में बदल गए। (भारत : आदिम साम्यवाद से दास प्रथा तक का इतिहास/श्रीपाद अमृत डाँगे, पृ. 179) इस प्रकार समाज में शोषक और शोषित दो वर्ग विकसित हुए।

13वीं, 14वीं शताब्दी में व्यापार की उन्नति तथा कल-कारखानों के विकास की प्रक्रिया दिखलाई पड़ने लगती है किंतु उस समय का समाज पूँजीवादी व्यवस्था का स्वरूप ग्रहण नहीं कर पाया था। सौदागरी पूँजीवाद की एक झलक उस समय के समाज में दिखलाई पड़ती है और वह कबीरदास के चिंतन का अंग बनती है। वे सेठों, साहूकारों, सूदखोरों का वर्णन अपनी कविता में खूब करते हैं। शोषक और शोषित समाज की विषमताओं को वे बखूबी पहचानते थे, इसीलिए उसको तारतार करने में नहीं चूकते। वे एक ऐसे समाज की संकल्पना में संलग्न थे जहाँ ऊँच-नीच, अमीर गरीब का कोई भेद न हो। वहाँ न जाति थी और न कोई सम्प्रदाय। वहाँ केवल मनुष्य था और इसी मानुष भाव से सब एक दूसरे से मिल सकते थे — अकुंठ भाव से। इसीलिए हम पाते हैं कि कबीर के सम्बोधन में या तो 'संतोभाई' आता है या 'साधो' अथवा 'अवधू'। ये सामान्य मानवता के शब्द थे। कबीर सामान्यजन को सम्बोधित करते थे। वे उन निरर्थक-कल्पना करने वालों की भी उपेक्षा करते थे जो गतिशील समाज की संकल्पना को बाधित करते थे। वे असंत और असाधु से बात करना चट्टान से सिर लड़ाना समझते थे, अतः कहते थे —

साधु मिले कुछ कहिए सुनिये,
मिलहिं असंत मष्टि करि कहिये।।

कबीर का जिस समय आविर्भाव हुआ था वह समय उथल-पुथल और विषमताओं से ग्रस्त था। उन्होंने समाज की सच्चाई का गहरा अनुभव पाया था इसीलिए उन्होंने शास्त्रानुभव की अपेक्षा स्वानुभव का बयान बेहतर समझा। जब कबीरदास ब्राह्मण को डाँटते हुए यह कहते हैं कि 'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी', तो उसमें उनका

स्वानुभव ही प्रबलता से मुखरित होता है। अतः कबीर की कविता "अनुभव सत्य" की कविता है। उस पूरे अनुभव सत्य में तत्कालीन समाज का एक पूरा-पूरा चित्र मिलता है।

8.4 कबीर का सामाजिक-वर्णगत और वर्गगत विद्रोह

ब्राह्मण-शूद्र – सामाजिक संस्कृति का विकास निर्गुण काव्य का मूल आधार रहा है। यह परम्परा उसे रिक्थ के रूप में मिली थी। इसकी बहुत कुछ पृष्ठभूमि तो सिद्धों और नाथों ने ही तैयार कर दी थी। ब्राह्मणवाद को चुनौती देने में सरहपा सबसे आगे थे। स्वयं ब्राह्मण कुल में पैदा होने के बावजूद उन्होंने तीर बनाने वाला कन्या से विवाह किया था। कबीरदास ने बहुत सी चीजें सीधे-सीधे अपने पूर्ववर्ती सिद्धों से लीं और उसको एक व्यापक परिप्रेक्ष्य में विश्लेषित करने का प्रयास किया।

मध्ययुग के समाज के ढाँचे का अध्ययन करने पर पता चलता है कि समाज में भेद की कितनी परतें थीं। इस व्यवस्था को तोड़कर एक समान भूमि तलाश करने की कोशिश कबीरदास ने की, ताकि ब्राह्मण और शूद्र दोनों एक समान भाव से अपनी-अपनी सामाजिक अस्मिता बनाए रखते हुए जीवन यापन कर सकें और अपनी–अपनी भूमिकाएँ निभा सकें। कबीरदास का रास्ता सीधा और सपाट नहीं था इसीलिए उन्हें प्रतिरोध और विद्रोह का रास्ता अपनाना पड़ा। वे ब्राह्मण को 'तुकार' की भाषा में फटकारते हैं। कई बार तो आश्चर्य होता है कि उन्हें कहाँ से इतना बल मिला था! वास्तव में, बल तो उनका आत्मिक और आध्यात्मिक ही था। जो अपना घर जलाता है (जिसे आचार्य द्विवेदी ने घर फूँक मस्ती कहा है) वही दूसरे का घर बसा सकता है। कबीर का 'घर' तो बेहद्दी मैदान था।

वे जिस समाज में पैदा हुए वहाँ भी कोई सुकून नहीं था। सामाजिक अस्मिता क्या थी? पूरे तौर पर ना हिन्दू ना मुसलमान, न ब्राह्मण न जुलाहा! सब कुछ तो अधूरा ही मिला। यहाँ तक कि समाज में भी न दोस्त न दुश्मन! (ना काहू से दो ना काहू से बैर)। दरअसल, दोस्त और दुश्मन तो समाज में तब बनते हैं जब आपका सामाजिक पृष्ठाधार हो! यहाँ तो सब कुछ लुटा-पिटा था। फिर प्रतिरोध और विद्रोह की पृष्ठभूमि तो यहीं तैयार हो गई थी। कबीरदास बहुत कुछ कहने और सहने की पीड़ा लेकर पैदा हुए थे। वास्तव में कबीर की सामाजिक मान्यताएँ उनके समय के समाज की विषमताओं और विद्रूपताओं से विनिर्मित हुई थीं। अतः कबीर में सामाजिक विषमताओं और विद्रूपताओं के विपरीत जो संघर्षशील चेतना है वह केवल उनके व्यक्तित्व का अंग नहीं है, अपितु वह उनके समय का सामाजिक दस्तावेज भी है। उनके सामने प्रतिरोध और विद्रोह के अतिरिक्त कोई दूसरा रास्ता भी नहीं था। सवाल उठता है कि क्या कबीरदास ने यह सब स्वांतःसुखाय किया? इसका उत्तर स्पष्ट है।

उनके सामने एक विशाल जन समूह था जो पीड़ित, दलित और उपेक्षित था। लेकिन कबीर के यहाँ 'दलित' कोई राजनीतिक चेतना का अंग नहीं था जो एक समुदाय विशेष या जाति की बात करता। कबीरदास तमाम तरह की संकीर्णताओं से ऊपर थे। उनका बेहद्दी मैदान भेदवाद का, चाहे वह जाति का हो या ऊँचनीच का हो, सबका प्रत्याख्यान करता है। कबीर का कोई राजनीतिक 'एजेण्डा' नहीं था। विशुद्ध रूप से वे समाज की गतिशील धारा का प्रस्थापन कर रहे थे जहाँ मनुष्य-मनुष्य में किसी प्रकार का भेद न हो। इसीलिए, हम कबीर साहित्य पर जो विद्वानों में नाना प्रकार के चिंतन किए हैं उनका आख्यान/प्रत्याख्यान न कर कबीर की कविता में जो बिंदु दिखाई पड़ते हैं, उन पर ही प्रकाश डालना चाहेंगे, और संभवतः कबीर की सामाजिक दृष्टि की यही सही समझ हो सकती है।

ऊपर हम बता चुके हैं कि कबीर जिस समय की उपज थे – वह पर्याप्त उथल-पुथल और अस्थिरता का युग था। कबीर हिंदू समाज में पैदा हुए और मुस्लिम समाज में पालित। तनाव केवल धार्मिक ही नहीं था सांस्कृतिक भी था। यह बात भी कि धार्मिक तनाव सांस्कृतिक तनाव का ही हिस्सा था। व्यापक परिप्रेक्ष्य में धर्म किसी संस्कृति का ही एक हिस्सा है। लेकिन तनाव था और इस तनाव का विधिवत चित्र विद्यापति की रचना 'कीर्तिलता' में देखा जा सकता है।

कबीर के समय में सबसे बड़ी चुनौती हिंदू समाज में ब्राह्मण और शूद्र की थी। समाज वर्णवाद की भयानक पीड़ा से ग्रस्त था। ब्राह्मणों को समाज में समस्त अधिकार प्राप्त थे, किन्तु शूद्र की दशा बहुत दयनीय थी। सेवा के अतिरिक्त उसे कोई अन्य अधिकार प्राप्त नहीं थे। इसके अतिरिक्त शूद्रों से अमानवीय व्यवहार भी किया जाता था। प्रो. हुमायूँ कबीर ने अपनी पुस्तक 'भारतीय परम्परा' में लिखा है कि ''इससे लोकतंत्र के विकास में बाधा पड़ी। उच्चवर्णों में इसके कारण दिखावे और अहंकार की भावना पैदा हुई। निम्नवर्गों में इससे हीन भावना और दासता की भावना को प्रश्रय मिला।" किन्तु इस दासत्व की भावना का बहुत कुछ दारोमदार शिक्षा पर भी था। शिक्षा पर ब्राह्मणों का अधिकार था या उच्चवर्णों का। अतः शेष जनता को दासत्व भोगना ही पड़ता था। अवर्णों के शोषण का एक मात्र कारण ही उनकी अशिक्षा रही है। सामंती समाज ने तो अवर्ण जातियों पर अत्याचार ही अशिक्षा के हथियार से किए। ''उन्होंने उन तक अक्षर ज्ञान पहुँचाने पर पाबंदी लगा दी थी ताकि वे ज्ञान से वंचित होने के कारण मनुष्य होकर भी पशु ही बने रहें।'' (परिवर्तन और विकास के सांस्कृतिक आयाम, प्रो. पी.सी. जोशी)

वर्ण-व्यवस्था सामंती व्यवस्था का आधार थी। इसलिए कबीरदास वर्ण-व्यवस्था और सामंती व्यवस्था दोनों को एक साथ तोड़ने का विषम काम कर रहे थे। इस व्यवस्था को तोड़ने के लिए उनके पास औजार था – भक्ति! और, यह भक्ति तब तक समूचे भारत में आंदोलन का रूप ग्रहण कर चुकी थी। इस आंदोलन का आधार था – समता-'हरि को भजे सो – हरि का होई' अर्थात् भगवान और भक्त के बीच ब्राह्मण और शूद्र का कोई भेद नहीं है। अब इसी बात को कबीरदास थोड़ी कड़ाई के साथ कहते हैं जिससे ब्राह्मणवाद का तिलमिलाना लाज़िमी था। कबीर ब्राह्मण श्रेष्ठता का बखान करने वाले उस ब्राह्मण का इतना तिरस्कार करते हैं कि उसे 'तू ' कहकर सम्बोधित करते हैं– 'जो तू बाम्हन बम्हनी जाया, आन राह ह्वै काहे न आया' (हे ब्राह्मण! यदि तू अपने को ब्राह्मणी का पुत्र कहता है तो किसी और रास्ते से क्यों नहीं आया!) कबीरदास तार्किक बात करते हैं। क्या इस तर्क के सामने कोई और तर्क कामयाब हो सकता है? दरअसल बात वैज्ञानिक है और जो बात 'साइंटिफिक टेम्पर' के साथ की जाएगी वह निराधार या बेमतलब नहीं हो सकती। अपने वैज्ञानिक मिज़ाज के कारण ही कबीरदास विश्वसनीय मालूम पड़ते हैं और मध्यकाल के सबसे लोकप्रिय संत प्रतीत होते हैं। वे अपनी बात तर्क और अनुभव की कसौटी पर कसकर करते हैं। इसीलिए उसी तरह का औपम्य-विधान भी रचते हैं। वे ब्राह्मण की अनेक तरह की बुराइयों का खुलासा करते हैं। उनके पाखंड और मिथ्याचार को उभारते हुए वे उन पर व्यंग्य करते हैं और ब्राह्मण उनके समक्ष बेज़वाब हो जाता है। कबीर का एक पद है जिसमें ब्राह्मण के पाखंड का खरेपन के साथ उद्घाटन किया गया है –

कहु पाँड़े कैसी सुचि कीजै,
सुचि कीजै तो जनम न लीजै।।
जा सुधि केरा करहु विचारा, भिष्ट भए लीन्हा औतारा।।
X X X X
जा कारण तुम लीन्ह जनेऊ, थूक लगाई कातै सबकोऊ।।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

ब्राह्मणवाद से जुड़े कुलवाद का भी कबीर ने उसी तेवर के साथ विरोध किया है। उनका मानना है कि कोई ऊँचे कुल (अर्थात् ब्राह्मण के घर) में पैदा होकर महान नहीं हो सकता; यदि करनी अच्छी नहीं है। मनुष्य अपने कर्म से बड़ा या छोटा होता है। इसीलिए कबीरदास व्यष्टि के आधार पर आचरण की पवित्रता पर विशेष बल देते हैं। करनी और कथनी का प्रश्न उनके लिए बहुत महत्व का था। मनुष्य के विकास और उसकी सामाजिक स्वीकृति का वह बहुत बड़ा आधार था। कबीरदास उस व्यक्ति को महान मानते हैं जिसके कर्म महान हों। वे एक स्थान पर कहते हैं कि ऊँचे कुल में उत्पन्न व्यक्ति यदि नीच कर्म करता है तो वह उस विषमय स्वर्ण-कलश के समान है जिसमें जल न होकर विष भरा है। वह सुंदर और बेशकीमती पात्र में होते हुए भी निन्दनीय है —

ऊँचे कुल क्या जनमियाँ, जे करनी ऊँच न होय।
सोवन कलस सुरे भर्‌या, साधू निंद्‌या सोय।।

कबीरदास ब्राह्मणों के बाह्याचार और पाखंड से मानो त्रस्त थे। ब्राह्मण अपने ब्राह्मणत्व को जमाने के लिए 'वेद व कतेब' (वेद और धर्म-ग्रंथ) की चर्चा करना नहीं भूलते। ब्राह्मण के ब्राह्मणत्व की ढाल वेद थे। इसीलिए ब्राह्मण बार-बार वेद और शास्त्र की दुहाई देते हैं। कबीर इसी का प्रत्याख्यान करते हैं। फिर उसे 'तुकार' की भाषा में डाँटने लगते हैं —

'तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूँ आँखिन देखी।

कबीरदास अनुभव को प्रामाणिक मानते हैं शास्त्र को नहीं। इसीलिए वे 'आँखों देखी' पर विश्वास करते हैं। वे कहते हैं कि संसार में कुछ भी स्थिर नहीं। इसलिए परमात्मा से क्या माँगें? आँखों के सामने ही तो सब कुछ चला जा रहा है —

का मागूँ कुछ थिर न रहाहीं।
देखत नैन चला जग जाहीं।।

अब ब्राह्मण को और कुछ नहीं मिलता तो वह स्वर्ग और नर्क का भय दिखाता है! कबीर उसका भी उपहास करने लगते हैं —

कौन भरै कौन जनमें आई, सरग नरक कौने गति पाई।

एक बात और, कबीरदास केवल ब्राह्मण को ही वेदशास्त्र के लिए नहीं फटकारते, अपितु काजी को भी उतना ही उपहास का पात्र बनाते हैं —

काजी कौन कतेब बखांनै।
पढ़त पढ़त केते दिन बीते, गति एके नहीं जानैं।।

वस्तुतः कबीरदास मानवता को अधिक महत्व देते हैं। वेद-शास्त्र पढ़कर भी जो जीवन के मर्म को नहीं समझ सका, उसे कबीरदास 'तजिए ताहि कोटि बैरी सम' मानते हैं। वे ब्राह्मण और शूद्र को एक समान भूमि पर लाना चाहते हैं जिसमें भक्ति सेतु का काम करती है। इसी भक्ति के आधार पर वे बड़ी से बड़ी शक्ति को चुनौती देते हैं। इतना भी नहीं तो उसे सोचने-समझने के लिए बाध्य अवश्य कर देते हैं।

प्रश्न उठना है कि कबीरदास ब्राह्मणों या ब्राह्मणवाद का प्रबल विरोध क्यों करते हैं? वास्तव में कबीर का विद्रोह ब्राह्मणों के पाखंड और सामाजिक विषमता से था। इस सामाजिक विषमता के फलस्वरूप समाज में नाना प्रकार की समस्याएँ पैदा हो गई थीं। लोगों का जीवन सामान्य नहीं था। ब्राह्मण श्रेष्ठता समाज पर एकाधिकार चाहती थी और दूसरे अर्थों में वह शोषण का हथियार हो गई थी। कबीरदास इस हथियार की धार को बंद

करना चाहते हैं। इसीलिए ब्राह्मण को चुनौती देते हुए कहते हैं कि तू यदि ब्राह्मण है तो मैं काशी का जुलाहा हूँ। तुझे मेरे ज्ञान के बारे में नहीं मालूम -

'तूँ ब्राह्मण मैं कासी का जुलाहा, चीन्हिन मोर गियाना।'

कबीर जिस ज्ञान से सम्पन्न थे उस ज्ञान तक ब्राह्मण नहीं पहुँच सकता। वह सहज मार्ग का ज्ञान है, शुचिता का ज्ञान है, मनुष्यता का ज्ञान है। झूठ बोलने वाला पंडित (पंडित बात बदंते झूठा) उस ज्ञान तक कहाँ पहुँच सकता है। कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे उसने उन्हें तनकर खड़ा होने की शक्ति प्रदान की थी - 'जाति जुलाहा मति कौ धीर'। पंडित के पाखंड पर प्रहार करते हुए कबीरदास कहते हैं कि हे ब्राह्मण, तूने तो सर्वत्र गंदगी फैला रखी है। तू ही बता, ऐसी कौन-सी जगह तूने साफ रखी है जहाँ बैठकर मैं भोजन कर सकूँ। सर्वत्र तो विकार भरा है और तुम उसमें अपने को श्रेष्ठ बतलाते हो—

कहु पंडित सूचां कवन ठाउँ,
जहाँ बैठि हौं भोजन खाउँ।।

कबीरदास ब्राह्मण के साथ ही कुलवाद का विरोध करते हैं। इस विरोध का आधार सामाजिक विषमता ही है। इस विषमता ने ही योग्य अवर्ण को अयोग्य सवर्ण के नीचे खड़ा कर रखा है। लेकिन कबीरदास की मान्यता है कि मरणोपरान्त शरीर में कोई भेद नहीं रह जाता। श्मशान में तो कुल-मर्यादा का ध्यान नहीं रखा जा सकता। कबीरदास इस विषमता बोध का अहसास तार्किक ढंग से करते हैं। अकाट्य बात करते हैं जिसके आगे कोई तर्क नहीं चल सकता। कुल और कुलीनतावाद का सारा प्रपंच मनुष्य द्वारा निर्मित है अतः कबीर उसके प्रति उपेक्षा प्रकट करते हैं —

दुनियाँ के धोखे मुवा, चलै जु कुल की काँणि।
तब कुल किसका लाजसी, जब ले धरया मसाँणि।।

कबीरदास के सामने ब्राह्मण या 'पाँडे' एक बड़ा ही निरीह प्राणी था। उसे कबीरदास ज़्यादा महत्व नहीं देते। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने अपनी पुस्तक 'कबीर' में लिखा है 'शास्त्रीय आतंक-जाल को छिन्न करके और लोकाचार के जंजाल को ढाहकर वे सहज सत्य तक पहुँच सके थे। इसमें कोई संदेह नहीं। कबीरदास का 'पंडित' बहुत अदना आदमी है, स्वर्ग और नरक के सिवा और कुछ जानता ही नहीं। जात-पाँत और छुआछूत का अनन्य उपासक है, तत्वज्ञान हीन, आत्म-वर्जित, विवेकबुद्धिहीन, अटल गँवार।'

आचार्य द्विवेदी का यह कथन एक सीमा तक सच हो सकता है, किन्तु इसमें शक है कि कबीर का पंडित अटट गँवार है, निरक्षर, विवेकबुद्धिहीन है। यदि ऐसा होता तो उसका सामाजिक वर्चस्व कैसे बनता और इतना प्रभावशाली कैसे बनता? फिर कबीरदास को उस 'अदने' को रास्ते पर लाने के लिए इतनी लम्बी-चौड़ी कसरत क्यों करनी पड़ती। दरअसल कबीर का पंडित एक उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व करता है और शास्त्रीय आतंक के साथ उसके पास सत्ता-प्रतिष्ठान का भी सहारा है। स्वर्ग और नरक का भय तो वह केवल अशिक्षित जनता पर ही दिखा सकता था। लेकिन इतना तो अवश्य था कि कबीरदास को ब्राह्मण से काफी नाराज़गी थी। उनके समय में शैव और शाक्त साधना में भी पर्याप्त रस्साकशी थी। सब प्रकार से वे वैष्णव धर्म को ही स्वीकार करते हैं और शाक्त को त्याज्य मानते हैं। शाक्त ब्राह्मण को वे शायद और भी निकृष्ट और त्याज्य मानते थे। तभी तो कहते हैं कि शाक्त ब्राह्मण की बजाय अगर वैष्णव चांडाल भी मिलता है तो उसे इस प्रकार से ग्रहण करो मानो भगवान ही मिल गए हों —

साकत बाँभण मति मिलै, बैसनों मिलै चंडाल।
अंकमाल दे भेंटिये, मानो मिले गोपाल।।

अतः कबीरदार के यहाँ ब्राह्मण उस व्यवस्था का प्रतीक है जिसमें कुलवाद, जातिवाद, नस्लवाद इत्यादि का समावेश है। विरोध वास्तव में व्यवस्था से है। दरअसल, कबीरदास उस समावेशी संस्कृति के उन्नायक थे जहाँ वर्णवाद, वर्गवाद सबका समाहार हो जाता है। उनमें समता की भावना विद्यमान है जो भारतीय संस्कृति का मूल आधार है। इसमें संदेह नहीं कि ब्राह्मणवाद और पुरोहितवाद ने भारत की सामासिक संस्कृति को जबर्दस्त धक्का पहुँचाया है। इसके प्रमाण विभिन्न शास्त्रों में मिल जाते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र तक में इसके प्रमाण देखे जा सकते हैं। कबीर की लोकधर्मिता अपने ढंग से ब्राह्मणवाद और पुरोहितवाद से संघर्ष कर रही थी। इस पुरोहितवाद को सबसे अधिक उर्वरा धर्म से मिल रही थी। कबीर के समय में धर्म का स्वरूप बदल चुका था चाहे हिन्दू धर्म हो या मुस्लिम, उसमें आकंठ शोषण और अनाचार प्रविष्ट हो चुका था। इस्लामिक समाज संरचना में भी जात-पाँत और भेदभाव भयानक रूप में दिखाई पड़ता है। क्यों कबीरदास 'ना हिन्दू-ना मुसलमान' की बात करते हुए भी अपने को 'जुलाहा' कहने से नहीं चूकते। इसका कारण संभवतः यह है कि जुलाहा जाति हिन्दू-मुसलमान के अतिवादों से ऊपर थी। वे अपने को मुसलमान एक बार भी नहीं कहते।

कबीरदास मनुष्यता की उच्च भाव भूमि पर खड़े होकर अपने समय और समाज को आवाज़ दे रहे थे। कबीर की एक साखी है जिसमें बाजार में खड़े होकर वे सबकी तरक्की और हित की बात करते हैं। उस बाजार में खड़े हैं जहाँ न कोई मित्र है न कोई शत्रु –

> कबिरा खड़ा बजार में, सबकी माँगे खैर।
> ना काहू से दोसती, ना काहू से बैर ।।

आप कल्पना कीजिए कि आप जिस समाज में रह रहे हों वहां पर न कोई दोस्त हो और न दुश्मन! असंभव-सा लगता है। यह कबीर जैसे साधक, घर फूँक मस्ती वाले फक्कड़ के लिए ही संभव था। यह दोहा कबीरदास के व्यक्तित्व में जो विद्रोह की पृष्ठभूमि है उसके आधार को सामने लाता है। सामाजिक संरचना में जिसे कोई स्थान न प्राप्त हो, उस व्यक्ति की बनावट कैसी होगी; इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है। विषमताओं और विडम्बनाओं को देखते हुए कबीर यही कह सकते थे –

> सुखिया सब संसार है, खाये अरु सोये।
> दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोये।।

जिन्हें आराम से, बिना हाथ-पाँव हिलाए सब कुछ मिल जाता है, जो हराम की खाते हैं, वे ही आराम से पैर फैलाकर सोते हैं; उन्हें पता नहीं होता कि दुनिया कहाँ है? जो सोता है वह खोता ही नहीं है; बहुत कुछ खोता है। वह जब सोता है तब अपने आस-पास 'अंधकार' रचता है और यह अंधकार है अज्ञानता का, आत्मग्रस्तता का, छल का, पाखंड का, मोह का, अहंकार का, अविद्या का, मूढ़ता का। तभी जागने पर जो कुछ दिखाई देता है, सुखकर नहीं होता। भीतर तक मथ देता है। कबीर का यह रोना और जागना इसी प्रकार का है। वह आध्यात्मिक भी है और ठेठ सामाजिक यथार्थ से उत्पन्न भी। कबीरदास ने अपने आविर्भाव के समय जिस ठोस यथार्थ और युग-सत्य का साक्षात्कार किया था, उसे देखकर उनके जैसा निष्ठावान और ईमानदार आदमी रो ही सकता है। उनके विद्रोही व्यक्तित्व का एक बहुत बड़ा कारण यह अंतहीन जागरण और रुदन भी है।

ऊँच-नीच, अमीर-ग़रीब

समाज में सामासिक संस्कृति और समता का संदेश प्रसारित करने वाले कबीरदास ने ऊँच-नीच और अमीर-गरीब की वर्गीय व्यवस्था के प्रति या तो उपेक्षा का भाव दिखलाया या उसका प्रतिरोध किया। वे मनुष्य-मनुष्य में किसी प्रकार के भेदभाव को सहन नहीं कर

सकते। इसीलिए वे धार्मिक-सामाजिक सीमाओं की दीवार को तोड़ते हुए एक ऐसे समाज की संकल्पना में संलग्न थे जिसमें अमीर-गरीब का भेद न हो और कोई किसी का शोषण न करे। शोषण करने वालों पर वे कुम्हार और मिट्टी के प्रतीक के माध्यम से प्रहार करते हैं –

माटी कहै कुम्हार सूँ, तू का रूँदै मोहिं।
इक दिन ऐसा होयगा, मैं रूँदूँगी तोहिं।।

आर्थिक-विषमता भी सामाजिक विषमता का परिणाम था। सामान्यतः लोगों के पास धन का इतना अभाव था कि वे महँगे वस्त्रों को भी नहीं खरीद सकते थे। इसलिए महँगे वस्त्रों का उपयोग करने वालों की एक अलग ही श्रेणी थी और उनमें राज-परिवार के लोगों की ही प्रधानता थी। कबीरदास की एक साखी में कुछ इसी प्रकार का भाव संकेतित हो रहा है –

नान्हा कातीं चित्त दे, महँगै मोलि बिकाइ।
गाहक राजा राम हैं, और न नेड़ा आइ।।

सामंती दम्भ को भी कबीरदास एक क्षण में काफूर कर देते हैं। रावण-जैसे शक्ति-सम्पन्न का वे जिक्र करते हैं; अर्थात् समाज के शोषकों का वैसा ही अंत हो जाएगा, जैसे रावण समय के थपेड़ों से नेस्तनाबूद हो गया था –

लंका सी कोट समंद सी खाई, ता रावन की खबर न पाई।।

पूँजी प्रायः महन्त सामंत, राव, सुलतान के घरों में विद्यमान थी या फिर बड़े-बड़े व्यापारी, सेठ-साहूकारों के पास। वे मजदूर और कामगार वर्ग से बेगारी करवाते और उनका शोषण करते थे। कबीर ने अपनी एक साखी में स्पष्ट कहा है –

"जनमु अनेकु गया अरु आया, की बेगारि न भाड़ा पाया।"

पुनर्जन्म की खोज भी विद्वान कर लेते हैं किन्तु इसकी व्याप्ति केवल वहीं तक नहीं है। दरअसल, कबीरदास बताना चाहते हैं कि पूँजीवादी शोषण किसान-मजदूरों पर इस तरह का चक्रव्यूह बना हुआ था जैसे चक्रवृद्धि ब्याज। उनकी अनेक पीढ़ियाँ कर्ज़ और बेगारी में ही समाप्त हो जाती थीं। समाज में आर्थिक विषमता इस कदर व्याप्त थी कि एक तरफ तो ऊँचे-ऊँचे महल और अट्टालिकाएँ थीं और दूसरी तरफ किसी को भर पेट भोजन भी नहीं मिलता था –

ऊँचे महल बिणण्याँ, सोवन कलस चढ़ाइ।

इसके साथ ही भोग-विलासिता भी अपने उत्कर्ष पर थी। सहज जीवन बिताने वाली (साध्वी) स्त्रियों को सामान्य मारकीन भी पहनने को नसीब नहीं होता और वेश्याएँ मलमल पहनतीं -

सतवंती को गजी मिले नहीं, बेस्वाँ पाहिरै खासा है।

इसके साथ ही; सामंतों, सूदखोरों का इतना अधिक आतंक था कि गरीब किसानों का वे खेत भी छीन लेते थे। (गाई कु ठाकुर खेत कुनापै)। इसका उल्लेख हम इकाई में पहले भी कर चुके हैं। इस प्रकार की सामाजिक विषमताएँ आधुनिक समाज में भी विद्यमान हैं किंतु एक सकर्मक कवि व्यक्तित्व की पहचान होती है कि वह इस प्रकार के शोषण के खिलाफ अपनी कविता में आवाज़ उठाए और यह कबीर की वाणी ने रचनात्मक रूप से किया। आर्थिक विषमता तोड़ने के लिए ही कबीरदास ने यह दर्शन दिया कि जितना जरूरी है उतना ही हमारे पास होना चाहिए। जो अतिरिक्त है, वह मारा-मारी, आपाधापी और पाप

का कारण बनेगा। सब सुखी हों, इसके लिए कबीर ने परमात्मा से भी उतना ही माँगने की बात सुझाई जितना आवश्यक है –

> साईं इतना दीजिए, जामें कुटुम समाय।
> मैं भी भूखा न रहूँ, साधू न भूखा जाय।।

कबीर का यह बोध समाज के विकास का मार्ग प्रशस्त करता है। उसमें बढ़ोत्तरी नहीं समग्र विकास का भाव है जबकि आज ठीक उलटा हो रहा है; समाज की एकतरफा बढ़ोत्तरी हो रही है। गरीब निरन्तर गरीब होता जा रहा है और अमीर निरन्तर अमीर। कबीर का उक्त दर्शन समाज में वर्गभेद की खाई पाटकर, सभी को समान भाव भूमि पर लाने की कोशिश करता है।

8.5 नारी की स्थिति तथा कबीर का उसके प्रति दृष्टिकोण

कबीर की सामाजिक मान्यताओं पर विचार करते समय उनके नारी संबंधी दृष्टिकोण को नज़रन्दाज नहीं किया जा सकता। आमतौर पर लोगों की धारणा है कि कबीरदास के विचार नारी-विरोधी हैं। यह बात सभी जानते हैं कि कबीरदास विवाहित, गृहस्थ थे। कोई गृहस्थ नारी की निंदा करे, यह कैसे संभव है! दरअसल, कबीरदास भक्त भी थे, यह बात लोग भूल जाते हैं। भक्त कवियों के यहाँ सर्वोच्च मूल्य भक्ति है। इस भक्ति में जो भी बाधक था उसकी कबीर ने निंदा की है। कबीरदास ने नारी मात्र की निंदा नहीं की है। वे वहाँ पर निंदा की बात करते हैं जहाँ स्त्री साधना-बाधक है – माया है। माँ पर जितना सुन्दर कबीरदास ने लिखा है, उतनी सुन्दर कविता आज के कवियों में भी शायद देखने को न मिले। कबीर का एक पद है जिसमें यह कहा गया है कि बेटा बेरोजगार हो गया है। माँ इस दुःख को देख नहीं पाती और अकेले में मुँह छिपाकर रोती है कि बेटे का गुज़ारा कैसे होगा? –

> मुसि मुसि रोवै कबीर की माई, ऐ लरिका क्यूँ जीवै खुदाई।

यह सब क्यों हुआ था? कबीरदास ने अपना स्वाभाविक पेशा भक्ति के चक्कर में छोड़ दिया था। वे स्वयं कहते – 'तननां बुनना तज्यां कबीर, रांम नांम लिख लिया शरीर।'

ऊपर हम बता चुके हैं कि कबीरदास की साधना का मूल भक्ति थी और उस मार्ग में जो अवरोधक होता उसे कबीरदास त्याग देते। आजीविका का सहारा भी छोड़ चुके थे। यह उनकी घर फूँक मस्ती थी जिसके कारण वे मध्यकालीन संतों में सबसे ज्यादा रचनात्मक भूमिका सामाजिक क्षेत्र में अदा कर सके थे। कबीर की निंदा वाली बातें तो लोग देख लेते हैं किंतु वे इस बात को भूल जाते हैं कि कबीरदास ने वेश्या की समस्या को भी उठाया है। उसकी सामाजिक अस्मिता का सवाल उठाया है। क्या कबीरदास का दृष्टिकोण केवल निंदापरक पदों या साखियों से ही निर्धारित होता है? उन पदों का आप क्या करेंगे जिनमें कबीरदास ने स्त्री जाति के प्रति पूरी प्रतिबद्धता ज़ाहिर की है। 'हरि जननी मैं बालक तोरा ' और 'राम मोरे पिउ मैं राम की बहुरिया' कहने वाले, पतिव्रता को साधना का उच्चतम आदर्श मानने वाले कबीरदास को क्या नारी-विरोधी कहा जा सकता है? जो कबीरदास वेश्या के पुत्र जन्म पर समाज के सामने यह सवाल खड़े करते हैं कि 'वेश्या के घर में बेटा पैदा हुआ है, उसके बाप का क्या नाम दिया जाए' -(बेस्याँ के घर बेटा जाया, पिता नाम कस कहिए), ऐसे कबीर को नारी-विरोधी कैसे कहा जाए?

कबीर अपने समय-समाज में स्त्री की स्थिति को लेकर चिंतित नज़र आते है। बात यह है कि वे 'स्त्री विमर्श' जैसा कोई सुनियोजित 'एजेण्डा' बनाकर नहीं चलते। उनका मार्ग सहज का था और सब कुछ उन्होंने सहज रूप में ही किया है, बल्कि उस सहज की भी

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

उनकी अपनी व्याख्या है – 'जिन सहजैं विषय तजी, सहज कही जै सोय।' बहुनारी-प्रथा उस समय के समाज की एक खुली सच्चाई थी। इसके विपरीत कबीर आवाज उठाते हैं। आवाज का मतलब कोई झण्डा नहीं उठाते, बल्कि सहज रूप में संकेत करते हैं कि 'परनारी' सेवन कोई अच्छी बात नहीं, उससे मनुष्य को अनेक प्रकार की हानियाँ उठानी पड़ती हैं। कबीरदास की इस विषय से संबंधित दो साखियाँ उद्धृत हैं –

(1) परनारी कौ राचणौं, अवगुण है गुण नाहिं।
षार समंद मं मांछला, केता बहि बहि जाहिं।।
(2) परनारी कैं राचणौ, जिस लहसन की खांणि।
षूणै बैठि रखाइए, परगट होइ निदांनि।।

वास्तव में कबीरदास नारी मात्र के विरोधी नहीं थे। वे परनारी-सेवन का विरोध कर समाज में एक स्वस्थ परंपरा क़ायम करना चाहते थे। आधुनिक आयुर्विज्ञान भी स्वस्थ समाज के लिए इसे स्वीकार करता है। अतः कबीर के विचार सर्वथा प्रासंगिक भी हैं। कबीरदास एक प्रकार से स्त्री के वजूद को भी स्थापित करना चाहते हैं। तत्कालीन समाज में भोगवाद का प्रभुत्व था और स्त्री को भोग्या समझा जाता था। इस भोगवादी संस्कृति का विरोध कर रहे थे कबीरदास। हो गया तो, आचार्य द्विवेदी के शब्दों में, सीधे-सीधे नहीं तो दरेरा देकर या भक्ति को आधार बनाकर। कबीरदास के एक पद में भी कुछ ऐसा ही संकेत मिलता है –

तृया का बदन देखि सुख पावै, साध की संगति कबहुँ न आवै।

कबीरदास के यहाँ यदि नारी-निंदा का स्वर है तो वह पुरुष की भोगवादी, अतिशय विलासिता की प्रतिक्रिया के रूप में है। अतः कबीरदास का नारी संबंधी दृष्टिकोण मध्यकालीन समाज को दृष्टि पथ में रखते हुए प्रतिक्रियावादी या परम्परागत नहीं कहा जा सकता। मध्यकाल का अंतर्विरोध उसमें भी है लेकिन वह असमीचीन नहीं है।

8.6 बुराई और विषमता के बरक़्स सामाजिक साम्य और प्रेम-भाव

कबीरदास ने समाज में जहाँ भी बुराई देखी, विषमता देखी, पाखंड और प्रपंच देखा, उसके प्रति विद्रोह का भाव जताया। वे अमीर-गरीब, ब्राह्मण-शूद्र, हिन्दू-मुसलमान, सबकी चौहद्दी पारकर एक ऐसे समाज की संकल्पना लेकर चले, जिसमें सब बराबर हों। उनका स्पष्ट मत था कि परमात्मा के यहाँ से सभी एक समान बनाकर भेजे गए हैं फिर संसार में उनके भीतर कैसा भेद? इस प्रकार कबीरदास का सामाजिक दृष्टिकोण सर्वथा संतुलित और समतावादी था; बल्कि उनके चिंतन पर किसी प्रकार का 'वाद' थोपना उनके प्रति अन्याय है। वे सबकी सीमाओं को पार करते हैं; इसीलिए उनके बारे में कहा जाता है कि उनका मैदान बेहद्दी था। वे मनुष्यता की उच्च भाव भूमि पर जिस आलोचनात्मक विवेक और वैज्ञानिक मिजाज़ (साईंटिफिक टेम्पर) के साथ खड़े थे उस मनोभूमि पर प्रेम के साथ ही सहज रूप में जाया जा सकता था। वह 'असिधार' का मार्ग था। उस मार्ग पर चलने के लिए अपना सर्वस्व समर्पित करना पड़ता है –

यह तो घर है प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस कटाए भुँई धरै, सो पैठे घर माँहि।।

कबीरदास ने जिस मानवीय प्रेम या कि मानवता का मार्ग दिखाया है वह आसान नहीं है। वह ऊबड़-खाबड़ और बियाबान था। उसमें ज्ञान की आँधी आती थी और उस आँधी में ज्ञान का दीपक ही एकमात्र सहारा था। मध्यकालीन सामंती समाज में अपने ज्ञानात्मक

संवेदना के कारण ही कबीरदास सत्ता-प्रतिष्ठान को भी वह चुनौती दे सके जो शायद परवर्ती संतों के यहां उस मुखरता के साथ नहीं अभिव्यक्त होती। इस दृष्टि से कबीरदास का कोई सानी नहीं। डॉ. रघुवंश ने लिखा है – उनके व्यक्तित्व में एक सहजता व्याप्त है जो उनके जिज्ञासु भाव से लेकर निर्भीक अखण्ड भाव तक में देखी जा सकती है। वह निरन्तर प्रश्नशील हैं और बिना अनुभव के गहरे तथा आंतरिक साध्य के प्रचलित भावनाओं; यहाँ तक कि योग जैसी साधनाओं को स्वीकार करने को तत्पर नहीं हैं। यह अनुभवों के आधार पर चुनौती देने का भाव, प्रश्नशील जिज्ञासा दोनों ही उनके ऐसे व्यक्तित्व को प्रकट करते हैं जो अपने अनुभव के स्तर से प्रश्न करता है और पूरी प्रक्रिया को अभिव्यक्त करने की क्षमता भी रखता है।" (कबीरः एक नई दृष्टि, डॉ. रघुवंश)

8.7 सारांश

इस इकाई में हमने कबीर की सामाजिक मान्यताओं के प्रिप्रेक्ष्य में मध्ययुगीन समाज और विभिन्न अनुशासनों का अध्ययन किया। किसी भी रचनाकार की वैचारिकता को समझने के लिए उसके परिवेश और युगीन परिस्थितियों की जानकारी आवश्यक होती है। हमने देखा है कि कबीरदास ने किस प्रकार और क्यों समाज की प्रगतिशील (Static) मान्यताओं के प्रति विद्रोह का भाव जताया। वे एक ऐसे समाज का दर्शन देते हैं जो सभी के लिए उपादेय हो। वे क्यों स्त्री के प्रति कठोर होकर भी कोमल बने रहते हैं और मध्ययुग में भी विद्रोह के स्वर में सत्ता प्रतिष्ठान के समक्ष यह सवाल रखते हैं कि वेश्या के पुत्र का क्या नाम हो? स्त्री को वेश्या किसने बनाया? उसका इस्तेमाल तो समाज के सफेदपोश करना चाहते हैं किंतु उसकी सामाजिक अस्मिता के लिए कुछ नहीं करना चाहते। यह सवाल कबीरदास ने उस समय पुरज़ोर रूप में उठाया था और आज 21वीं शताब्दी में भी हम इस सवाल से रूबरू होते हैं। अतः कबीर का सामाजिक चिंतन हमें आज भी मथता है और आँखें खोलकर सोचने और समझने के लिए बाध्य करता है। वे जाति, वर्ग और धर्म के वैषम्य को समाप्त कर ऐसे समाज की कल्पना करते हैं जहाँ मानवीय आधार पर मनुष्य मनुष्य से मिल सके। कबीर का यही मानुष भाव जायसी में मिलता है जहाँ वे प्रेम (मानवीय प्रेम) को सर्वोपरि मानते हुए उसे मनुष्य के लिए अनुकरणीय मानते हैं।

इस इकाई का अध्ययन करने के बाद अब आप;

- कबीर के युग की सामाजिक मान्यताओं तथा सामाजिक स्थितियों का विश्लेषण कर सकते हैं;
- वर्ण–व्यवस्थाओं और वर्ग–व्यवस्था का स्वरूप और उसके विषय में कबीर के विचारों को स्पष्ट कर सकते हैं;
- तत्कालीन परिस्थितियों के आलोक में कबीर की सामाजिक मान्यताओं का आकलन कर सकते हैं; और
- कबीर के सामाजिक साम्य तथा मानवीय प्रेम की संवेदना तथा मानवीय प्रेम की संवेदना की विस्तार भावना के विषय में बता सकते हैं।

8.8 अभ्यास प्रश्न

1) कबीर की सामाजिक चेतना पर प्रकाश डालिए।

2) कबीर की सामाजिक चेतना के परिप्रेक्ष्य में उनके विद्रोही रूप पर विचार कीजिए।

3) कबीर की सामाजिक मान्यताओं की प्रासंगिकता पर विचार कीजिए।

4) वे कौन से सामाजिक कारण थे, जिन्होंने कबीर के व्यक्तित्व को निर्गुण साहित्य में श्रेष्ठ बना दिया? विचार कीजिए।

8.9 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- कबीर ग्रन्थावली : (सं.) श्यामसुन्दर दास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
- कबीर एक नयी दृष्टि : रघुवंश, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।
- कबीर : हजारीप्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली।
- विचार–विमर्श : चन्द्र बली पांडे, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY

इकाई 9 कबीर और धार्मिक रूढ़िवाद

इकाई की रूपरेखा

9.0 उद्देश्य

9.1 प्रस्तावना

9.2 मध्यकालीन धार्मिक रूढ़िवाद और कबीर

9.3 कबीर-साहित्य में धार्मिक रूढ़ियाँ और उसके विविध रूप

9.4 धार्मिक रूढ़ियाँ : सर्जनात्मक या असर्जनात्मक– कबीर की दृष्टि

9.5 धार्मिक रूढ़ियों के प्रति कबीर का विद्रोह और उसकी संभावनाएँ

9.6 सारांश

9.7 अभ्यास प्रश्न

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

9.0 उद्देश्य

कबीर का विशेष अध्ययन पाठ्यक्रम की यह नौवीं इकाई है। इस इकाई का अध्ययन करने के बाद आप :

- मध्यकालीन धार्मिक रूढ़िवाद के स्वरूप, मध्यकाल में धार्मिक रूढ़िवाद के फैलाव और समाज के विभिन्न हिस्सों पर पड़े प्रभाव का अध्ययन कर उसे भावात्मक कर सकेंगे;
- कबीर-साहित्य में किस प्रकार की रूढ़ियाँ मिलती हैं उनका विश्लेषण कर सकेंगे;
- इन धार्मिक रूढ़ियों के प्रति कबीर के विद्रोह की चर्चा कर सकेंगे;
- धार्मिक रूढ़िवाद के प्रत्याख्यान में कबीर की शैली का विवेचन कर सकेंगे; और
- कबीर के धार्मिक रूढ़िवाद के प्रतिरोध के फलस्वरूप सामाजिक बदलाव और परवर्ती साहित्य पर उसके प्रभाव को बता सकेंगे।

9.1 प्रस्तावना

इस इकाई के अंतर्गत आप अध्ययन करेंगे कि मध्यकालीन समाज में किस प्रकार की धार्मिक रूढ़ियाँ थीं जिन्होंने उस समय के सामाजिक ढाँचे को प्रभावित किया। ऐसा माना जाता है कि भारत एक धर्मप्राण देश रहा है। साहित्य को समाज का आईना कहा जाता है। अतः समाज का प्रभाव साहित्य पर पड़ता है और उसका प्रतिबिंबन साहित्य में होता है। किसी रचनाकार के लिए समाज ही उसका आधार होता है क्योंकि जीव-जगत भी उससे ही परिबद्ध हैं। मनुष्य समाज में प्रकृति, जीव, जन्तु सब समाहित हैं और सभी का उपभोक्ता किसी न किसी रूप में सामाजिक प्राणी-मनुष्य ही है। धर्म भी उसी मानव-समाज के लिए है। कबीरदास जिस समय और समाज की उपज थे वह समाज नाना प्रकार के अंतर्विरोधों से घिरा हुआ था। कबीरदास संत हों, समाज सुधारक हों या कवि हों, किन्तु सबसे पहले वे अपने को मनुष्य मानते थे। अतः जो वस्तु मनुष्यता और

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

मनुष्य भाव का प्रसार कर रही थी, उसका विकास कर रही थी, उसका कबीरदास ने पुरज़ोर समर्थन किया है। धर्म का भी कबीर के यहाँ व्यापक परिप्रेक्ष्य था। उनके यहाँ भी शायद धर्म की यही व्याख्या थी – धारयति इति धर्मः। उन्होंने अपनी वाणियों में इसी भावना का प्रसार किया है। धर्म वास्तव में साधना है और कबीरदास इस साधना में बाधक तत्वों की व्यापक निंदा करते हैं। यहाँ तक कि वे निंदक को भी व्यक्तिगत साधना के लिए बड़ा जरूरी और उपयोगी समझते थे, क्योंकि वह आचरण को पवित्र बनाता है। आचरण की पवित्रता पर सबसे अधिक बल दिया है कबीरदास ने। यदि किसी का आचरण ठीक नहीं है तो वह अच्छा मनुष्य नहीं हो सकता। इसलिए कबीरदास करनी – कथनी की बात करते हैं और बाक़ायदे करनी बिना कथनी करने वाले की वे निंदा करते हैं। कबीर ग्रंथावली में पूरा एक अंग (अध्याय), 'निंदा कौ अंग' है कबीरदास अपने सम्बोधन में सबसे ज़्यादा 'साधु' (साधो) को संबोधित करते हैं। क्योंकि साधो या संत ही पाखंड और प्रपंच से विरत होकर सहज साधना करते हैं। इसलिए साधो के माध्यम से कबीरदास अपनी बात कहते हैं। बात क्या कहते हैं, संवाद करते हैं।

रूढ़ि का संबंध विश्वास या लोकविश्वास से है, किंतु जब रूढ़ियाँ किसी धर्म या समाज में प्रधान हो जाती हैं तो वह धर्म या समाज पीड़ादायक हो जाता है। कबीरदास जिस समाज में पले-बढ़े थे वह समाज बहुत सी रूढ़ियों से ग्रस्त था। स्वयं कबीरदास की निर्मिति बताती है कि जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त कबीरदास ने रूढ़िवाद से संघर्ष किया। पैदा होते ही माँ द्वारा त्याग दिया जाना सामाजिक रूढ़ि की ही विडम्बना थी जिसका प्रभाव कबीरदास की चिंतन-प्रक्रिया पर परिलक्षित होता है। जिस सामाजिक व्यवस्था और धर्म व्यवस्था पर लगातार कबीर ने प्रहार किया है उसमें उनके लिए कोई और रास्ता बचा भी नहीं था। इसी कारण वे धार्मिक रूढ़िवाद के घोर विरूद्ध थे । उन्होंने शास्त्र और धर्मशास्त्र की अनुपयोगिता बताते हुए अनुभव पर बल दिया और उसको सही माना; क्योंकि साक्षात्कृत अनुभव से बढ़कर कोई बात वैज्ञानिक नहीं हो सकती। वे एक वैज्ञानिक मिज़ाज (Scientific-temper) के आदमी थे और धर्मसाधना में भी उन्होंने वैज्ञानिकता के तक़ाजे को नज़रन्दाज न कर उसे ही बढ़ावा दिया।

कबीर के काव्य में धार्मिक रूढ़िवाद और उसके विभिन्न आयामों का निदर्शन व्यापक रूप में मिलता है। उन्होंने ऐसी धार्मिक रूढ़ियों के प्रति उपेक्षा का भाव दिखाया और एक ऐसे स्वस्थ समाज की कल्पना की जिसमें धर्म का न आडंबर हो और न उसका आतंक ही। इतिहास में इस बात के प्रमाण हैं कि मध्ययुग में धर्म के नाम पर कितना और किस प्रकार का अत्याचार हुआ। कबीर की कविता में इस दुःख की सघन अनुभूति मिलती है। संभवतः कबीर-साहित्य की लोकप्रियता का एक कारण उनका यह लोकधर्म भी था। अपने खरेपन के कारण कबीर सिकंदर लोदी का कोपभाजन भी बने थे। उन्हें जंजीर में बाँधकर हाथी के पैरों तले कुचलवाने का उपक्रम भी सिकंदर लोदी ने करवाया था। इससे सम्बन्धित एक पद कबीरदास के यहाँ मिलता है जो ग्रंथ साहिब में संकलित है। इस पद में इस बात का संकेत है कि किस प्रकार सिंकदर लोदी के दरबार में उन्हें काफिर घोषित किया गया था और बेड़ियों में जकड़कर उन्हें नदी में फेंक दिया गया, किंतु जिस कबीर को माया मोह की श्रृंखला नहीं बाँध सकी उन्हें ये बेड़ियां कैसे बाँध सकती थीं। फिर सिकन्दर लोदी ने उन्हें अग्निकुंड में डलवाया किंतु कबीर साहब फिर बच गए! इसके बाद उनके ऊपर मदमस्त हाथी छोड़ा गया किंतु वह हाथी भी उन्हें नमस्कार कर चिंघाड़ता हुआ भाग खड़ा हुआ। आज के वैज्ञानिक युग में ये बातें कपोल कल्पना लगती हैं किन्तु कबीरदास अपनी खरी ज़िह्वा के लिए प्रसिद्ध थे और इसलिए सिकंदर लोदी की तरफ से उन्हें तन-ताप मिला होगा, इस बात से इन्कार करना मुश्किल है। इस तरह के धार्मिक अत्याचार मध्ययुग में मिलते हैं। ऐसा भी लोगों का मानना है कि कबीर का मगहर प्रवास तन-ताप के कारण हुआ था। सच्चाई चाहे जो भी हो, किंतु इससे यह संकेत अवश्य मिलता है कि धार्मिक पाखंड और धर्म के नामपर अत्याचार मध्ययुग में था। कबीरदास का पद इस प्रकार है–

कहा अपराध संत हौं कीन्हाँ, बाँधि पोट कुंजर कौ दीन्हा।
कुंजर पोट बहु बंदन करै, अजहुँन सूझे काजी अँधरै।।

इस प्रकार धार्मिक रूढ़ियों के साथ-साथ मध्यकालीन मानासिकता भी इस प्रकार की थी जिसमें उन रूढ़ियों को फलने-फूलने का अवसर प्राप्त था। मध्यकाल के स्वरूप पर विचार करते हुए आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी ने उसमें एक 'जबदी हुई स्तब्ध मनोवृत्ति' का संकेत किया है और इस तरह की प्रवृत्तियाँ मध्ययुग में थीं। भूतप्रेत, जादू-इन्द्रजाल, रोजा-नमाज, कर्मकांड इत्यादि ऐसी अनेक प्रवृत्तियाँ उस समय के समाज में दिखाई देती हैं जिनका व्यापक प्रभाव कबीर के चिंतन पर दिखाई पड़ता है।

9.2 मध्यकालीन धार्मिक रूढ़िवाद और कबीर

कबीरदास जिस समय की उपज थे वह समय भारतीय इतिहास में संक्रमणशीलता का था। कबीर समाजचेता व्यक्ति थे। वह भक्त या संत तो थे ही किन्तु उससे ऊपर वह एक मनुष्य थे। भक्ति आंदोलन के मूल में भी यही मनुष्यता की भावना थी जिसने उसे इतना लोकप्रिय और सर्वव्यापी बनाया। हम जानते हैं कि मध्ययुग के अधिकांश संत गृहस्थ थे। कबीरदास भी गृहस्थ थे। साधना के लिए गृह-त्याग आवश्यक नहीं यह बात सिद्धों ने भी कही थी। कबीर साहब ने उसी का विस्तार किया। गृह-त्याग पलायनवादी दृष्टि है। जोगी बनकर कपड़ा रँगाकर साधक बनना पाखंडवाद है। जोगियों की भी खबर लेते हुए कबीरदास कहते हैं –

मन ना रँगाये, रँगाये, जोगी कपरा।
x x x

योगी तुमने परमात्मा में अपना मन नहीं रँगाया। यदि उसमें अपना मन रँगवा लिया होता तो इस तरह पाखण्ड में भटकना नहीं पड़ता। कबीरदास की पहली शर्त है कि हम पहले मनुष्य बनें। एक समझदार मनुष्य बनें जिससे हमारी प्रश्नाकुलता का समाधान हो।

मध्यकाल का संबंध रूढ़िवाद से गहरे रूप में था। आचार्य हजारी-प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक में लिखा है "जिन दिनों कबीर का आविर्भाव हुआ था उन दिनों हिंदुओं में पौराणिक मत ही प्रबल था। परंतु यह साधारण गृहस्थों का धर्म था। देश में और भी नाना भाँति की साधनाएँ प्रचलित थीं। कोई वेदपाठी था तो कोई उदासी; कोई ऐसा न था जो दीन बना फिर रहा था, तो कोई दान-पुण्य में ही व्यस्त था; कोई मदिरा के सेवन को ही चरम साधना मानता था, तो कोई तन्त्र-मन्त्र, औषधि आदि की करामात से ही सिद्ध बना फिरता था; कोई सिद्ध था, कोई तीर्थव्रती था और कोई धूम्रपान से शरीर को काला बना रहा था।

सबसे मुख्य बात यह है कि कबीरदास ने पौराणिक हिंदू धर्म के आचार-बाहुल्य को ही अधिक लक्ष्य किया था। कोई पूजा या उत्सव उनकी दृष्टि में ज्यादा खटकता था, पर उस पूजा या उत्सव के पीछे छिपा हुआ तत्त्ववाद प्रायः ही उनकी दृष्टि में उपस्थित नहीं होता था। मूर्ति की उपासना उनको बुरी लगती थी पर ऐसा जान पड़ता है कि मूर्ति वाला तत्त्ववाद उन्हें मालूम ही न था।

वेदपाठ, तीर्थस्थान, व्रतोद्यापन, छुआछूत, अवतारोपासना, कर्मकांड इत्यादि सबके विरूद्ध कबीरदास ने लिखा है पर कहीं भी उनकी गूढ़ व्याख्याओं को या उसकी पृष्ठभूमि के तत्त्ववाद को उल्लेख योग्य नहीं समझा। वस्तुतः सारा हिंदू धर्म उनकी दृष्टि में एक बाह्याचार बहुल ढकोसला मात्र था। योगमार्ग को भी उन्होंने ढकोसला ही समझा था।" आचार्य द्विवेदी के इस लंबे उद्धरण से कबीर के चिंतन और उसकी प्रक्रिया की एक

मुकम्मल तस्वीर सामने आती है। कबीरदास किसी चिंतन-प्रणाली के खूँटे से बँधकर नहीं रहे, अपितु मानवता के विकास में जो कुछ भी जहाँ से प्राप्त हुआ उसे अपनाते रहे। उनका मैदान बेहद्दी था, इसलिए वे दर्शन और दार्शनिक मतवाद की सीमाएँ गिनाने से नहीं चूके। उनके अनुसार जितने दार्शनिक मतवाद उतने ही तरह का पाखण्ड –

छह दरसन छियान के पाखंड, आकुल किनहुँन जाना।
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौराना।।

बाह्याचार और रूढ़िवाद के प्रति कबीर के यहाँ कोई मुरौव्वत नहीं। उनकी दृष्टि वैज्ञानिक थी और अवैज्ञानिक बातों का वे किसी सीमा तक प्रत्याख्यान करते थे। इसके लिए उन्होंने जो रास्ता चुना था वह प्रतिरोध और प्रतिपक्ष का ही था।

कबीरदास का जिस हिंदू धर्म से पाला पड़ा था उसकी एक दीर्घ परम्परा थी और उसका बहुत कुछ संबंध मनुष्य के विकास था और वह वैचारिक एवं भावात्मक मुक्ति का मार्ग था किंतु उसमें अंधविश्वासों और रूढ़ियों का लगातार समावेश होता चला गया और वह मुक्ति की अपेक्षा बंधन के दलदल में फँस गया। यह दलदल हिंदू धर्म और मुस्लिम धर्म दोनों में ही था। अतः यह कहना चाहिए कि कबीर को दोनों की रूढ़ियों का सामना करना पड़ा। इसके लिए उन्होंने दोनों ही धर्मों की चौहद्दी तोड़ी और घोषित किया कि कबीर वहाँ खड़ा होकर अपनी बात कहेगा जहाँ समग्र संस्कृति है। जहाँ न हिदू है न मुसलमान या जहाँ हिंदू भी है और मुसलमान भी। वे बाज़ार में खड़े होकर सभी की ख़ैर मनाते हैं जहाँ की संस्कृति सामासिक है और कबीरदास की न किसी से दोस्ती है न किसी से बैर –

कबिरा खड़ा बाजार में, सबकी माँगे खैर।
ना काहू से दोसती, ना काहू से बैर।।

आप कल्पना कीजिए कि यह कितनी कठिन बात है। आप जिस समाज में रहते हैं, वहाँ आपका न कोई मित्र हो ना दुश्मन। आप बिना मित्र और बिना किसी दुश्मन के समाज में जियें, बहुत संभव नहीं। दुश्मन न हो कम से कम मित्र तो हो! लेकिन कबीरदास के पास वह भी नहीं है, क्योंकि वे तो सबको टटोलने वाले, नापने वाले थे, फिर मित्र कैसे बनाते? फिर भी कबीरदास अकेले नहीं थे। एक पूरी चिंतनधारा उनके साथ आई जो मनुष्य जाति का भला चाहती थी। आख़िर कबीरदास की जरूरत किसको थी! उनको, जो मानवता की उच्च भाव भूमि पर अवस्थित, जो इस देश को आज की शब्दावली में विश्वसनीय बनाना चाहते थे। इसलिए कबीर की चेतना का विकास परवर्ती संत-साहित्य में मिलता है और आज उसकी चेतना का एक अंग दलित चेतना के रूप में भी देखा जा सकता है। इसमें कोई शक नहीं कि दलित चिंतन के लिए कबीरादि का साहित्य एक विस्तृत पृष्ठभूमि का काम करता है। धर्म के पाखंड और रूढ़िवादिता का विखंडन कर कबीर ने एक ऐसे समाज और धर्म की संकल्पना विकसित करने का प्रयास किया जिसमें कोई अमीर-गरीब का भेद न हो, अवर्ण और सवर्ण का चक्र न हो। धार्मिक अंधविश्वासों और रूढ़ियों के जाल को भेदकर कबीरदास एक स्वस्थ मार्ग प्रशस्त करना चाहते थे जिसमें पंडे और पुरोहितों का वर्चस्व समाप्त हो, जहाँ काजी और मुल्ला का आतंक न हो। इसलिए कबीरदास को ज्ञान की लुकाठी लिए यह घोषणा करनी पड़ी की जो अपने साथ ज्ञान का प्रकाशमान दीपक लेकर आएगा, वहीं उनके साथ चल सकता है। जो तीन-तेरह के चक्कर में पड़ेगा वह उनके साथ नहीं चल सकेगा –

कबिरा खड़ा, बजार में, लिए लुकाठी हाथ।
जे घर जारे आपना, चलै हमारे साथ।।

मध्यकालीन धार्मिक रूढ़िवाद का संबंध हिंदू और मुस्लिम समाज दोनों से था। दोनों धार्मिक दृष्टि से पाखंडवाद के शिकार थे। इसके अतिरिक्त दोनों में ही सामाजिक दृष्टि से भी

भेदभाव था। मुस्लिम समाज में भी शिया और सुन्नी का द्वन्द्व था तो हिन्दू समाज में भी अनेक धाराएँ थीं और चिंतन के स्तर पर भी शैव-शाक्त, वैष्णव, स्मार्त इत्यादि अनेक सम्प्रदाय थे। स्वयं कबीरदास शाक्तों को हेय मानते थे। वे शाक्त ब्राह्मण की बजाय चाण्डाल वैष्णव को ज़्यादा बेहतर मानते थे और उसके मिलने पर ऐसा सुख अनुभव करते मानो गोपाल (भगवान) ही मिल गए हों –

> साकत बाम्हन जनि मिलै, बैसनों मिले चंडाल।
> अंकमाल दे भेंटिये, मानो मिले गुपाल।।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि आचार-विचार और धर्म साधनाओं की प्रक्रिया में अनेक प्रकार की रूढ़ियों के साथ ही आध्यात्मिक एवं दार्शनिक चिंतन की प्रक्रिया में भी विषमताएं और प्रपंच का समावेश हो चुका था। योगियों की अनेक साधनात्मक प्रक्रियाओं, प्रतीकों तथा मुहावरों के साथ ही बहुत सी बातों को कबीरदास ने स्वीकारा किन्तु साथ ही साधनात्मक स्तर पर कई कोणों से वैष्णव पद्धति को भी अपनाए रखा। वास्तव में वे कुछ साधनाओं तथा तंत्रवाद के बहुत से आयामों को सहज साधना के अनूकूल नहीं पाते। यही कारण है कि वे सहज साधना को बड़े स्वाभाविक रूप से स्वीकार करते हैं। वे सहज की एक सहज परिभाषा करते हैं। सहज वह है जो सहज ही विषयों का त्याग कर दे –

> सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्हे कोइ।
> जिनि सहजैं विषया राजी, सहज कहीजै सोइ।।

यही कबीर का सहज धर्म है। वे इसी की साधना करने की बात करते हैं, इस साधना के लिए न तो भव्य मंदिर की जरूरत है और न आलीशान मस्जिद की। परमात्मा न तो मंदिर में है और न मस्जिद में; न मथुरा-काशी कर्बला में। वह तो मन-मंदिर में है और उसे पाने के लिए मन-मंदिर के दरवाजे को खोलने की जरूरत है। मन का घूँघट-पट खुलते ही उस पीव का दर्शन आत्म साक्षात्कार के द्वारा किया जा सकता है –

> घूँघट के पट खोल रे तोको पीव मिलैंगे।
> X X X

मनुष्य ने अपनी आँखों पर अंधविश्वासजन्य रूढ़िवादिता का घूँघट कर रखा है। कबीरदास उसी अज्ञान के घूँघट को हटाने की बात कहते हैं। किंतु तमाम प्रयासों के बावजूद जब यह घूँघट नहीं हटता तो कबीरदास को परेशान होकर, कभी-कभी उग्र भी होना पड़ता है। वे कड़ी से कड़ी भाषा का प्रयोग करने में भी नहीं हिचकते। रूढ़ियों और अंधविश्वासों की निस्सारता को वे बड़ी निर्ममता के साथ उद्घाटित करते हैं। अनेक कारणों से उनका 'व्यक्तित्व बहुत ही आकर्षक हो गया है। वे नाना भाँति की परस्पर विरोधी परिस्थितियों के मिलन-बिन्दु पर अवतीर्ण हुए थे, जहाँ एक ओर हिन्दुत्व निकल जाता है, दूसरी ओर मुसलमानत्व, जहाँ एक ओर ज्ञान निकल जाता है, दूसरी ओर भक्तिमार्ग, जहाँ से एक तरफ निर्गुण भावना निकल जाती है, दूसरी ओर सगुण साधना। उसी प्रशस्त चौराहे पर वे खड़े थे। वे दोनों ओर देख सकते थे और परस्पर विरुद्ध दिशा में मार्गों के दोष, गुण उन्हें दिखाई दे जाते थे।' (मध्यकालीन धर्म साधना, ह.प्र. द्विवेदी, पृ.107)

आचार्य द्विवेदी ने अन्यत्र लिखा है कि मुसलमानों के भारत में प्रवेश के साथ ही बौद्ध-साधना क्रमशः मंत्र-तंत्र और टोने-टोटके की ओर अग्रसर हो रही थी। बौद्धों-शाक्तों और शैवों का एक बड़ा भारी समुदाय ऐसा था जो ब्राह्मण और वेद-प्रधानता को नहीं मानता था। इस्लाम के आने से एक ऐसा सांस्कृतिक संकट उत्पन्न हुआ जिससे सारा देश दो प्रधान प्रतिस्पर्धी धार्मिक दलों में विभक्त हो गया। अपने को या तो हिंदू कहना पड़ता था या मुसलमान। पंजाब में भी नाथों निरंजनों की अनके शाखाएँ मुसलमान हो गईं। अनेक

शैव, बौद्ध और शाक्त सम्प्रदाय थे जो न हिंदू थे न मुसलमान। बहुत-सी जातियाँ भी वृहत्तर हिंदू समाज में स्थान न पाने के कारण मुसलमान हो गईं। हिंदुओं में आत्मरक्षा की प्रवृत्ति बड़ी तीव्रता से हुई और समूचा समाज वर्णसंकरता की आशंका से ग्रस्त हो गया। कबीरदास कुछ उन्हीं जातियों में से थे जो ना हिंदू ना मुसलमान की सीमा के द्वन्द्व में फँसी थीं। संभवतः यही कारण है कि कबीरदास दोनों की सीमाओं का अतिक्रमण करते हैं। हिंदू-मुस्लिम दोनों की धार्मिक रूढ़ियों पर प्रहार करते हैं। वे समाज को ऐसे बिन्दु पर पहुँचाना चाहते थे जहाँ किसी तरह का भेदभाव न हो और न किसी का किसी आधार पर अपमान हो। इस बात का संकेत हम पीछे भी कर चुके हैं। अतः कबीर का व्यक्तित्व ऐसा था जो रूढ़िग्रस्त समाज और धर्म के ढूह को ढहाकर ज्ञानात्मक संवेदना से सम्पन्न कर उसे समुन्नत करना चाहता था। इसमें संदेह नहीं कि कबीरदास इसमें कृतकार्य भी हुए। कबीर को वही धर्म स्वीकार था जो निर्वैर-निष्काम हो और मनुष्यता की भावना को आगे बढ़ाने वाला हो। आचार्य शुक्ल ने उनके बारे में अपने इतिहास-ग्रंथ में जो संक्षिप्त टिप्पणी की थी वह अक्षरशः सत्य प्रतीत होती है।

दर्शन और विचार मनुष्य के सकर्मक चिंतन से जुड़कर नया अर्थ पाते हैं और शायद सार्वकालिक भी होते हैं। बदलते समाज के साथ उसमें कुछ परिवर्तन भी होते हैं और उन परिवर्तनों की प्रतिध्वनि की पहचान से गतिशीलता प्राप्त होती है। इस दृष्टि से कबीर मध्यकाल के सबसे विश्वसनीय और रचनात्मक कवि लगते हैं जिन्होंने मध्यकालीन सामंती समाज की विश्रृंखलता को विवेकपूर्ण ढंग से उद्घाटित किया है। उनका विवेक ही है जो समाज के सोने पर भी जागता रहता है और यथार्थ का साक्षात्कार कर परेशान होता है —

सुखिया सब संसार है, खाये अरु सोये।
दुखिया दास कबीर है, जागे अरु रोये।।

जो जागता है वही रोता है। जो सोया हुआ है उसे जीवन के यथार्थ का बोध नहीं होता। अतः कबीर का यह अंतहीन रुदन उनके समय-मध्ययुग का ठोस यथार्थ था जिसे कबीर जैसा विवेकशील देखकर रो ही सकता था। लेकिन एक सजग प्रहरी की तरह सामाजिक विसंगतियों से और रूढ़ियों से टकराकर कबीर नयी संभावनाओं की तलाश में सक्रिय होते हैं। ''वे एक ऐसे समय में उपस्थित हैं जब कविता कर्म अभिव्यक्ति के शिल्प का विषय नहीं रह जाता, वहाँ चुनौतियाँ बड़ी हैं क्योंकि प्रश्न रचना के सामाजिक-सांस्कृतिक दायित्व के निर्वाह का है जो आज भी हमारे सामने मौजूद है। कबीर गहरे आत्मविश्वास के कवि हैं और वे जानते हैं कि जिस जमीन पर वे खड़े हैं वह पुख्ता है, उसका मानवीय आधार ठोस है। वे हमारे सबसे सजग यथार्थवादी स्वर हैं। सामान्य वर्ग से आए इस विद्रोही कवि के पास ईमान, निर्भयता की पूँजी ही तो है जिसके सहारे वह किसी बात को सह नहीं सकता; कट्टरपंथियों और रूढ़ियों पर व्यंग्य करता है, अपनी आवाज में निर्भय है। हर प्रकार के ढोंग को चुनौती देती उसकी रचना अपने समय के प्रति गहरे असंतोष और विक्षोभ से उपजी है।'' (भक्ति काव्य का समाजशास्त्र,प्रेमशंकर) यही असंतोष और विक्षोभ घनीभूत होकर विद्रोह का रूप ले लेता है। किंतु विद्रोह रचनात्मक और सकारात्मक है। वह केवल विरोध के लिए नहीं है। उसमें एक स्वस्थ समाज के विकल्पन की पूरी प्रक्रिया है। इसीलिए कबीर की कविता एक बेहतरीन सामाजिक धरोहर है और साहित्य में सत्यम् शिवम् सुन्दरम् का आदर्श भी। असहमतियाँ हो सकती हैं किंतु वे भी निर्विकल्पन की भूमिका नहीं निभा सकतीं। वस्तुतः कबीर की निर्मिति और उसके निर्णायक तत्त्वों पर दृष्टिपात किया जाय तो यह बात साफ-साफ सामने आती है कि वे तत्त्व ऐसे ही कबीर का निर्माण कर सकते थे। रूढ़िवाद और प्रपंच को कबीर कभी भी अपने सामने खड़ा देख ही नहीं सकते थे। आँखें बन्द रखना वे बेमानी मानते थे। आँख बन्द कर चलने वाले उनके अनुसार उस अंधे गुरु और शिष्य की तरह हैं जो एक-दूसरे को कुएँ में गिराते हैं —

जाका गुर है आँधला, चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दोन्यो कूप पड़ंत।।

बात सही और तार्किक है। आँख मूँदना यथार्थ से मुँह मोड़ना है। शुतुर्मुग की तरह रात में सिर गाड़ लेने से जीवन का यथार्थ नहीं बदल जाता। इसलिए कबीरदास घूँघट के पट ही नहीं आँखें भी खोलकर रखने की बात करते हैं। वे हिंदू और मुसलमान के बीच उत्पन्न खाई को पाटने का प्रयास करते हैं और इसीलिए बार-बार वेद-कुरान, व्रत-रोजा, मंदिर-मस्जिद, पूजा-नमाज, जनेऊ-सुन्नत इत्यादि से सम्पन्न रूढ़ियों का जोरदार खण्डन करते हैं। यहाँ तक कि ब्राह्मण और मुल्ला कबीर के शायद सबसे दुत्कृत पात्र हैं। उनके पाखंड वे सबसे अधिक उद्घाटित करते हैं।

मध्यकाल में धार्मिक अंधविश्वास और रूढ़ियों का प्रवेश भारतीय समाज में एक बड़े पैमाने पर हो चुका था। इसका कारण यह भी है कि मध्यकाल का जो सामाजिक ढाँचा है वह मूलतः सामंती है जिसमें धार्मिक रूढ़िवाद का एक पूरा-का-पूरा तंत्र है। यह तंत्र जायसी के पद्मावत में परिलक्षित होता है जब रत्नसेन का अंत होता है। तब सारा कुछ स्वाहा हो जाता है किंतु जायसी यह बताते हैं कि रूढ़िवाद का जनक ब्राह्मण नहीं मरा —'एक न बाम्हन मरै सुवारा।' राजा को स्वर्ग में खाना बनाने के लिए ब्राह्मण रसोइया चाहिए अतः उसे मरने की जरूरत नहीं। अतः ब्राह्मण ने अपने लिए वहाँ भी जगह सुरक्षित कर रखी है। आख़िर राजा अवर्ण के हाथ का बना खाना भी नहीं खा सकता। कबीरदास की कविता इसी तरह भारतीय सामंती समाज की रूढ़िगत मूढ़ताओं का प्रत्याख्यान करती है। वह तत्कालीन समाज की सीमाओं का अतिक्रमण करती है और उसमें अंतर्ग्रथित चेतना विरोध और विद्रोह का एक सार्वजनीन विकल्प प्रस्तुत करती है। वह विकल्प इसलिए भी मजबूत और टिकाऊ है क्योंकि उसमें अनुभव के यथार्थ का एक भरा-पूरा चित्त है यह ऐसा चित्त है जो सबको चमत्कृत करता है और चारों ओर ज्ञान की आग जली हुई है —

कबीर चित्त चमंकिया, चहुँदिसि लाइ लागि।

X X X

9.3 कबीर-साहित्य में धार्मिक रूढ़ियाँ और उसके विविध रूप

कर्मकांड

मध्यकालीन समाज में धार्मिक रूढ़ियों की अनेक परतें दिखाई पड़ती हैं। कबीर की कविता अनुभव-सत्य की कविता है। उन्होंने भक्ति-साधना के समानान्तर समाज-साधना भी उसी तेवर के साथ की है। उनका अनुभव-जगत बहुत व्यापक है। अतः धार्मिक रूढ़िवाद की विभिन्न परतों को खोलने में कबीरदास ने विशेष रुचि दिखाई है। वास्तव में वे धार्मिक रूढ़िवाद के प्रबल निंदक थे, क्योंकि उससे पुरोहितवाद को शोषण का अधिकार मिलता है। पुरोहितवाद का एकमात्र साधन ही रूढ़िवाद था जिसके कारण कबीरदास ब्राह्मणवाद या पुरोहितवाद के प्रति विरोध जताते हैं। यहाँ तक कहते हैं कि इन पंडितों ने ऐसा वितंडा फैलाया है कि समाज में कोई स्थान साफ-सुथरा नहीं रह गया। इसलिए कबीरदास पंडित को तुकार की शब्दावली में डाँटते हैं —

जौ तू बाम्हन बम्हनी जाया, आन राह ह्वै काहे न आया।।
कहु पंडित सूचाँ कोन ठाँउ, जहाँ बैसि हौं भोजन खाउँ।।

कबीरदास का यह मानना है कि यह अंधविश्वास और रूढ़िवाद ब्राह्मणवाद/पुरोहितवाद की उपज है। यह उसकी बड़ी खेती है जिसके कारण ब्राह्मण अपना वर्चस्व दिखाता है। इसका अपनी कविताओं में कबीर ने बार–बार निषेध किया है।

तीर्थ-व्रत

मध्ययुग में तीर्थ और व्रत की संकल्पना का बहुत विस्तार था। उस समय ही नहीं आज भी यह आस्था से जुड़ा विचार है। कबीर इससे सहमत नहीं थे कि तीर्थ और व्रत करने से मनुष्य मोक्ष का अधिकारी होता है या उसका इहलोक और परलोक अच्छा होता है। और उन्होंने यह प्रतिपादित करने का प्रयास किया है कि तीर्थ और व्रत तो पाखंड के प्रारूप हैं। उनका एक ऐसा पद है जिसमें तीर्थ-स्थल पर होने वाले बाह्याचार और गंगा-स्नान के पाखंड का उपहास किया गया है –

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुवा कराइन बहुरी भुजाइन
घूँघट ओटैं भसकत जाय।
पाँच पचीस कैं धक्का खाइन
नौ मन मैल है लीन्ह चढ़ाय।।

यहाँ गंगा नहाने वाली उन पाखंडी स्त्रियों का कबीर ने चित्र दिया है जो गंगा नहाने के नाम पर पाखंड करती थीं।

मध्ययुग में ऐसी रूढ़ि थी कि काशी में मृत्यु पाने पर मोक्ष मिलता है। बहुत से लोग वहाँ जाकर अपना सिर कटा देते थे। कबीरदास ने इस रूढ़िवाद का तीखा विरोध किया और अपने तीखे विचार इस रूप में रखे –

जौं कबिरा कासी मरै, रामहिं कौन निहोरा।'

यदि काशी में मरने से ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है तो राम का निहोरा करने की क्या जरूरत! इसलिए इस रूढ़ि को तोड़ने के लिए जीवन के अंतिम समय में मगहर चले गए। ऐसी मान्यता थी कि मगहर में मृत्यु होने पर नरक मिलता है। कबीर कहते हैं कि भक्तों, यह तो हमारे मन का भोला-सा भ्रम है। परमात्मा (राम) तो सर्वत्र है, फिर क्या काशी और ऊसर मगहर ? –

कहतु कबीर सुनहु रे लोई, भरमुन भूलहु कोई।
क्या कासी क्या मगहर ऊसर, राम हिरदय जो होई।।

हृदय में अगर राम हैं तो मगहर और काशी में कोई भेद नहीं, चाहे जहाँ जियो या मरो। इसी प्रकार कबीरदास ने मुस्लिम रूढ़िवादिता के तीर्थ-केंद्र काबा और हज का भी प्रत्याख्यान किया है। वहीं उन्होंने रोजा और नमाज की व्यर्थता सिद्ध की है और उस परमप्रिय परमात्मा को तीर्थ और मूर्ति में न ढूँढ़कर मनुष्य के दिल में ढूँढ़ने की सलाह दी है –

रोजा करैं निमाज गुजारैं, क्या हज काबै जाँय।
ब्राह्मण ग्यारसि करैं चौबीसौं, काजी महरम जाँन।
जौ रे खुदाइ मसीति बसत है, और मुलिक किस केरा।
तीरथ मूरति रॉम निवासा, दुहुँ मैं किनहुँन हेरा।
पूरिब दिसा हरी का बासा, पछिम अल्ह मुकाँमा।
दिल ही खेजि दिलै दिल भीतरि, इहाँ रॉम, रहिमाँना।।

इसी प्रकार अन्य अनेक उदाहरणों के लिए देखिए कबीर-ग्रंथावली, श्याम सुंदर दास,पृ. 34-35, 181, 195).

मूर्ति पूजा

मूर्ति पूजा का संबंध हिंदू धर्म की आस्था से है। कबीरदास ने मूर्तिपूजा और बहुदेववाद का जोरदार खंडन किया है। इसका भी संबंध कबीरदास पुरोहितवाद से जोड़ते हैं। यह सारा वितंडा ब्राह्मणों/पुरोहितों का है जिससे उनका धर्म पर वर्चस्व बना रहे। समूचा भक्ति आंदोलन इस कर्मकाण्डवाद का विरोधी है। मंदिर और मस्जिद उसके आश्रय हैं इसीलिए भक्ति की साधना के लिए ये निस्सार हैं। निर्गुण साधना में मूर्तिपूजा और देवालय पाखंड और आडम्बर के प्रतीक हैं अतः कबीरदास ने उसके प्रति अनास्था जताते हुए उसे अनावश्यक बताया है। मूर्तिपूजा को पत्थर पूजा मानते हैं और शोषण का एक अपार अंग मानते हैं फलतः उसकी उपेक्षा करते हैं। समूचा कबीर साहित्य इस प्रकार की उपेक्षा दृष्टि से भरा पड़ा है जो अनावश्यक नहीं है अतः वह प्रासंगिक भी है। पुरोहितों के लिए मूर्तिपूजा, देवालय इत्यादि खाने-पीने का एक सहज साधन है, इसलिए उसकी उपेक्षा की जरूरत बताते रहते हैं। लेकिन कबीरदास ऐसे प्रत्यक्ष उदाहरण भी पेश करते हैं जिससे उनकी बात ठीक लगती है और धर्म के ये सब बाहरी आवरण निरर्थक और बेमानी साबित होते हैं। एक स्थान पर मूर्तिपूजा की निस्सारता और अवैज्ञानिकता दिखाते हुए कबीरदास कहते हैं कि मूर्ति के ऊपर नाना प्रकार के मिष्ठान चढ़ाये जाते हैं, किन्तु पुजारी उन मूर्तियों को बचा-खुचा देकर सारा माल अपने घर ले जाता है –

> लाडू लावर लापसी, पूजा चढ़ै अपार।
> पूजि पुजारा लै गया, दै मूरति मुँह छार।।

धर्म का आधार विश्वास होता है। कोई भी विचार या मतवाद विश्वास पर टिका होता है किन्तु जब विश्वास अंधविश्वास का रूप ले लेता है तो वह समाज के लिए घातक सिद्ध होता है और तब बड़ी शिद्दत के साथ यह महसूस किया जाने लगता है कि इस अंधविश्वास को दूर करना चाहिए। समूचा संत साहित्य अंधविश्वास और रूढ़िवाद की प्रस्तर दीवार को तोड़ने का एक विराट प्रयास है। कबीरदास ही नहीं सभी संत कवियों ने रूढ़ियों और अंधविश्वास का प्रत्याख्यान किया है। डॉ. गोविन्द्र त्रिगुणायत का मत है कि निर्गुण काव्य धारा का उदय ही रूढ़िवादी अंधविश्वास प्रधान धार्मिक सम्प्रदायों की प्रतिक्रिया के रूप में हुआ था। (निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि,पृ.10) अतः कबीरदास ने मूर्तिपूजा जन्य रूढ़िवाद का जबर्दस्त विरोध किया और इसके मूल में सामासिक संस्कृति की भावना थी जिसका आगे के संतों ने भी विस्तार किया। कबीर पत्थर की मूर्ति की पूजा करने की बजाय घर की चक्की की पूजा करना बेहतर मानते हैं जिससे दो समय का आटा निकाला जा सकता है। वे कहते कि यदि पत्थर की पूजा करने से हरि (भगवान) मिलते हैं तो मैं पहाड़ की पूजा करूँ –

> पाहन पूजें हरि मिलैं, तो मैं पूजूँ पहार।
> तातैं वह चाकी भली, पीस खाय संसार।।

कबीरदास गृहस्थ संत थे। वे धर्म के बाहरी आडम्बर को निरर्थक मानते थे। उसे प्रपंच मानते थे। वे सहज साधना के हिमायती थे जिसमें पूजा, आचार, विचार, विधि निषेध सब बेमतलब और बेकार हैं। कबीर कर्म पर विश्वास करते थे और इसीलिए करनी और कथनी को ज्यादा महत्व देते थे। कर्म अच्छे करने चाहिए लोक-परलोक सब सुधर जाएगा। इसीलिए वे प्रपंच और पाखंड का विरोध करते हैं –

झूठा जप तप झूठा ग्याँन, राम नाम बिन झूठा ध्याँन।
विधि निखेद पूजा आचार, सब दरिया मैं वार न पार।।

कर्मकांड का विरोध

पूजा-संध्या, व्रत इत्यादि रूढ़िवादजन्य कर्मकांडों के साथ ही कबीरदास षट्कर्म इत्यादि का विरोध करते हैं। एक स्थान पर जनेऊ का विरोध करते हैं। वे कहते हैं कि हे ब्राह्मण जिस जनेऊ को तुम बड़े गर्व से पहनते हो और उस पर नाज़ करते हो, वह जिस सूत से बना है, उसकी पूनी में थूक लगाकर सूत कातने वाले ने उसे जूठा कर रखा है। उस जूठी चीज की पवित्रता पर यह तुम्हारा कैसा गर्व? –

जा कारणि तुम लीन्ह जनेऊ, थूक लगाई कातै सब कोऊ।

इसी के साथ वे चौका-बर्तन जन्य आचार-विचारगत पाखंड का विरोध करते हैं –

अन्न जूठा, पाँनी जूठा, जूठे बैठि पकाया।
जूठी कड़छी अन्न परोस्या, जूठे जूठा खाया।
चौका जूठा, गोबर जूठा, जूठी काठी कारा।।

इन आचार-विचारजन्य जूठे रूढ़िवाद से कबीरदास बचने का संदेश देते हैं क्योंकि यह झूठी पवित्रतावादी मानसिकता है जो भेदभाव पैदा करती है। विषमतावाद को बढ़ावा देती है। मूल बात परम सत्य को पकड़ने की है। उसके लिए न किसी प्रकार के विधि-निषेध की जरूरत है न बाह्य शुचितावाद की। यह सब ढकोसला है और यह सारा रूढ़िवाद एक आवरण मात्र है। वास्तविक धर्म का मर्म कहीं उससे ऊपर है और वही ग्रहण करने योग्य है। बाकी सब थोथा है जिसे फटक देने की जरूरत है –

साधू ऐसा चाहिए, जैसा सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहै, थोथा देहि उड़ाय।।

इस तरह की चीजें भ्रम का आधार हैं, इसी को कबीरदास धर्म का बिजूका मानते हैं जो सत्य से दूर ले जाकर उसके मायाविष्ट जगत में प्रवेश कराता है। कबीरदास उस भ्रम का विध्वंस कर मायालोक से परे यथार्थ लोक में ले आते हैं और अंतरसाधनात्मक रूप में उसे सुरति-निरति का 'परचा' (परिचय) मानते हैं। उनका कहना है कि यह मायालोक तभी समाप्त होता है जब सुरति और निरति का परचा होता है, उसी के माध्यम से उसका सिंहद्वार खुलता है –

सुरति निरति परचा भया, तब खूलै स्यंधदुआर।

कबीरदास निरर्थक साधना में संलग्न मनुष्य को माफ नहीं करते। उसको बार-बार चेताते हैं। धर्म के बाहरी आवरण अर्थात रूढ़िवाद और कर्मकांड को निरर्थक मानते हैं, किन्तु आदमी है कि उसी को धर्म का मर्म समझता है। कबीरदास का मन रोता है। वे झुँझलाते हैं उस पर भी उनकी बात का कोई ध्यान नहीं करता तो वे कठोर बात कहते हैं। अतः कबीरदास में जो विद्रोह का भाव है वह अकारण नहीं है। वे खीझकर कहते हैं कितना भी समझाओ पर लोग तो भेड़ की पूँछ पकड़कर भवसागर पार जाना चाहते हैं –

कबीर इस संसार कौ, समझाऊँ कै बार ।
पूँछ जु पकड़ै भेड़की, उतर्या चाहै पार ।।

रूढ़िवाद के इस पक्ष का ही कबीरदास ने जीवन भर विरोध किया। यह मनुष्य को उस अंधकूप की ओर ले जाता है जिसमें अज्ञान का जल लबालब भरा है। कबीरदास इस

अंधकूप से मुक्ति का एक रास्ता गुरु को मानते हैं। यही कारण है कि वे गुरु गोविंद के विकल्प पर गुरु के नाम पर उंगली रखते हैं और ज्ञानात्मक संवेदन से सम्पन्न गुरु की आवश्यकता बताते हैं अन्यथा अज्ञानी गुरु तो वैसे ही होगा जैसे एक अंधा दूसरे अंधे को रास्ता दिखाए –

जाका गुरु है आँधला, चेला खरा निरंध।
अंधे अंधा ठेलिया, दोन्यो कूप पड़ंत ।।

कबीरदास के यहाँ आँख का मतलब साक्षात्कृत ज्ञानात्मक संवेदन से है। सामान्यतः ऐसा भी होता है कि आँखें होते हुए भी लोग यथार्थ को नहीं देख पाते। उनकी आँखों पर अज्ञान का झीना पर्दा चढ़ जाता है। जो सामने दिख जाता है उसी को सच मान बैठते हैं। इसलिए कबीरदास उनकी अन्तश्चेतना को जगाने का प्रयास करते हैं। वे कहते हैं कि जिस प्रकार आँखों में पुतली होती है उसी प्रकार परमात्मा मनुष्य के भीतर ही होता है किंतु मूर्ख लोग उसे जीवन-जगत के बाह्य प्रपंचों में ढूँढ़ने का प्रयास करते हैं –

ज्यूँ नैनूँ मैं पूतली, त्यूँ खालिक घट माँहि।
मूरिख लोग न जाँणही, बाहरि, ढूँढण जाँहि।।

डॉ. श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रंथावला' में एक अंग (अध्याय) 'भ्रम-विध्वौंसण को अंग' है जिसमे कबीर ने धार्मिक रूढ़िवाद के विभिन्न पक्षों पर विस्तार से विचार किया है।

छापा-तिलक

कबीरदास ने छापा-तिलक लगाये उन धर्म के ठेकेदारों की भरपूर खबर ली है जो भोली-भाली जनता को बेवकूफ बनाते हैं। ऐसे लोग कबीरदास की नजर पर विशेष रूप से हैं। उनकी आलोचना करने में कबीरदास कोई मुरव्वत नहीं करते, बल्कि बड़ी निर्ममता से उनके इस पाखंडी और प्रपंची चरित्र को उपहास का विषय बनाते हैं। लेकिन इस उपहास में भी एक तरह की करुणा है। वास्तव में व्यंग्य वही रचनात्मक होता है जिसमें करुणा हो और कबीरदास के व्यंग्य में पोर-पोर करुणा अनुस्यूत है। उनका विस्तार बहुत व्यापक है और इसीलिए वह टिकाऊ है। तिलक लगाकर निरीह लोगों को बेवकूफ बनाने वाले किसी धार्मिक की कबीर ने यूं खबर ली है –

बैसनौं भया तौ का भया, बूझा नहीं बिबेक।
छापा तिलक बनाइ करि, दगध्या लोक अनेक ।।

माला फेरना

धार्मिक रूढ़िवाद के कितने रूप हो सकते हैं कबीर की कविता इसका जीवन्त उदाहरण है। माला फेरना धार्मिक रूढ़िवाद का बहुत महत्वपूर्ण अंग है। यह एक प्रकार का बाह्याचार है। मन तो कहीं और लगा है किंतु माला फेरकर यह दिखाने का प्रयास किया जाता है कि धर्मोपासना हो रही है। कबीरदास इसे महापाखंड मानते हैं। विचित्र बात यह है कि इस तरह की धार्मिक रूढ़ियाँ आज भी भारतीय समाज में विद्यमान हैं। कबीरदास माला फेरने की बजाय मन को फेरने की बात करते हैं। यदि माला पहनने/फेरने से भगवान मिल जाता तो रहट को तो जरूर मिल गये होंगे; उसके गले में तो माला ही माला है –

कबीर माला मन की, और संसारी भेष ।
माला पहर्यां हरि मिलै, तौ अरहट कै गलि देष ।।

धर्म के नाम पर पाखंड करने वाले मध्ययुग में रहे होंगे, यह कबीर के दोहों और पदों से पता चलता है किंतु धर्म के नाम पर जिस प्रकार का घृणित कर्म आज हो रहा है उसे देखकर लगता है कि कबीरदास का इस प्रकार का विरोध कितना सार्थक है।

श्राद्ध और पिंड-दान

धार्मिक रूढ़िवाद का एक अपर रूप लोकाचार भी है। मरणोपरान्त श्राद्ध करने की रूढ़ि भारतीय समाज में प्राचीन काल से ही रही है। ऐसा माना जाता है कि पिण्ड-दान और श्राद्ध-कर्म करने से पूर्वजों को परलोक में संतृप्ति मिलती है और इस प्रकार मनुष्य अपना भी लोक-परलोक सुरक्षित करता है। कबीरदास इसे लोकाचार नहीं बाह्याचार मानते हैं —उनका कहना है जीवित रहते कोई माता-पिता की सेवा करता नहीं, मरने के पीछे उन्हें स्नेह देते हैं। जीवित रहने पर उन्हें परेशान करते हैं और मरने के बाद श्राद्ध कर उनका परलोक सुधारने का उपक्रम करते हैं। कबीरदास कहते हैं कि मुझे तो अचरज होता है कि वह श्राद्ध-पिंड कौआ खा जाता है। बेचारे पितरों को कैसे मिले —

जीवहिं पित्रहिं शारहिं उंगा, मूँवाँ पित्र ले धालै गंगा ।
जीवत पित्र कूँ अन्न ख्वावैं, मूँवाँ पाछै ष्यंड भरावैं ।
जीवत पित्र कूँ बोलैं अपराध, मूँवाँ पीछे देहि सराध।
कहि कबीर मोहि अचिरज आवै, कउवा खाइ पित्र क्यूँ पावै ।

कबीरदास का अन्य पद है जिसमें उन्होंने धार्मिक रूढ़िवाद के विभिन्न रूपों का एकत्र खंडन किया है -

एक निरंजन अलह मेरा,
    हिंदू तुरक दुहू नहीं मेरा।
राखूँ व्रत न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमस्कारूँ ।
नाँ हज जाऊँ न तीरथ पूजा, एक पिछाँण्या तौका दूजा ।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूँ मन लागा।

यह लम्बा उद्धरण यहाँ इसलिए दिया गया है ताकि कबीर के धार्मिक रूढ़िवाद विषयक दृष्टिकोण मुकम्मल तौर पर समझे जा सकें। इस पद में एतद् विषयक उनका समग्र दृष्टिकोण एक साथ समझा जा सकता है। वे किस तरह से अपने समय की प्रचलित धार्मिक रूढ़ियों की तरफ संकेतित करते हैं और उनकी अवैज्ञानिकता सिद्ध करने का प्रयास करते हैं।

9.4 धार्मिक रूढ़ियाँ: सर्जनात्मक या असर्जनात्मक — कबीर की दृष्टि

ऊपर कबीर के चिंतन में धार्मिक रूढ़ियों के प्रति जो चिंता प्रकट हुई है उससे उनके विवेचन का पृष्ठाधार तय होता है। धार्मिक रूढ़ियाँ प्रायः हर समाज में होती हैं, चाहे वे पाखंड और लोकाचार के रूप में ही क्यों न हों! कुछ एक लोकाचार और रूढ़ियाँ तो सकारात्मक और संवरण के लायक भी होती हैं किंतु उसका बहुलांश स्वीकार करने लायक नहीं होता है। कबीरदास ने जिन धार्मिक रूढ़ियों के बारे में अपने विचार प्रकट किए हैं वे ज्यादातर बेमानी और प्रपंचात्मक रूढ़ियाँ हैं। अवैज्ञानिकता रूढ़ियों की नियति होती है अतः वे असर्जनात्मक ही होती हैं। उनके पीछे वैज्ञानिकता कम गतानुगतिकता अधिक होती है। दूसरे रूढ़ियों का संबंध निजी विश्वास और आस्था से भी है। कुछ रूढ़ियों का संबंध मनोवैज्ञानिकता से भी हो सकता है। मन की एकाग्रता के लिए आलंबन रूप में

असीम को ससीम में बाँधने की कल्पना की गई होगी। मूर्ति पूजा का भाव उसी का परिणाम हो सकता है किंतु कालांतर में वह आस्था-विश्वास की अपेक्षा रूढ़िगत अधिक हो गया। इसी से उसमें पाखंड और बाह्याचारों का समावेश हुआ। उदाहरण के लिए, पीपल के पेड़ की पूजा का कारण उसमें निहित ऑक्सीजन रहा होगा किंतु कालांतर में यह बात अंधविश्वास में बदल गई होगी। मध्ययुगीन अधिकांश धार्मिक रूढ़ियों का संबंध वैज्ञानिकता से कम अंधविश्वास से अधिक है। मूर्ति पूजा की वैज्ञानिकता का प्रश्न उतना अधिक महत्व नहीं रखता जितना कि आस्था और अंधविश्वास से। इसका मतलब यह है कि रूढ़ियों का संबंध व्यक्ति के मन में संचित आस्था भाव से है अन्यथा वैज्ञानिकता तो इस बात में यही है कि पत्थर की मूर्ति पत्थर है और निर्गुण साधना के लिए तो वह वैसे ही निरर्थक है।

किसी भी वस्तु की सर्जनात्मकता या असर्जनात्मकता का प्रश्न इस बात पर निर्भर करता है कि वह मनुष्य समाज के लिए कितना उपादेय है। कबीरदास जिस समय की उपज हैं उसमें धर्म का बहुआयामी स्वरूप दिखाई देता है। भारतीय मध्ययुग के इतिहास पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि धर्म की यहाँ वही भूमिका नहीं थी जो यूरोप में थी। यहाँ उसका एक व्यापक संदर्भ था और मनुष्य के जीवन को बेहतर बनाने का एक विकल्प था। यह मनुष्य के लिए नैतिक मूल्य भी था और जीवन-मूल्य भी। यह बात जरूर है कि जब एक दूसरी संस्कृति ने यहाँ के प्रचलित धर्म में हस्तक्षेप किया तो शायद आचार-विचार और चिंतन-प्रक्रिया में बदलाव आया। आचार्य द्विवेदी ने जिस आचार प्रवणता की बात की है कबीर के संबंध में उसका संबंध संभवतः इसी प्रक्रिया से है। शंकराचार्य ने जब 'म्लेच्छाक्रांतेषु देशेषु' की बात की तो संभवतः यह संकेत करते हैं कि प्रचलित हिंदू धर्म में तोड़फोड़ हो चुकी। किंतु मध्ययुग का द्वन्द्व धर्म से अधिक सांस्कृतिक द्वन्द्व था जिसमें संतों और सूफियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

9.5 धार्मिक रूढ़ियों के प्रति कबीर का विद्रोह और उसकी संभावनाएँ

गोरखनाथ का एक पद है जिसमें वे कहते हैं 'अवधू मन चंगा तो कठौती में गंगा, बाँध्या-मेल्हा तो जगत चेला।' यह बात कबीरदास के यहाँ भी उसी भाव के साथ आती है और इससे बहुत साफ-साफ स्पष्ट हो जाता है कि कबीरदास पर नाथ-सिद्ध साहित्य का कितना गहरा प्रभाव है। धर्मिक रूढ़ियों के प्रति विद्रोह का भाव कबीरदास को विरासत में मिला था और उन्होंने इस विरासत को न केवल सँभालकर रखा, अपितु उसका रचनात्मक उपयोग किया। पुस्तकीय ज्ञान से जीवन नहीं चलता, अनुभव से चलता है। उस पर ऐसा अनुभव जो स्वयं साक्षात्कृत हो। कबीरदास को ऐसा ही अनुभव मिला था जिसके बल पर वे हर प्रगति विरोधी बात का विरोध कर सकते थे। इसके अतिरिक्त कबीर ने अपने आविर्भाव के समय जिस तरह का समाज देखा था उसमें विद्रोही मानसिकता की निर्मित का होना उचित ही था। इसके अतिरिक्त तत्कालीन धर्म साधनाओं का जो दाय कबीर को मिला था उसमें उनके विद्रोही तेवर ने उनके व्यक्तित्व को निखार ही दिया। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने 'कबीर' नामक पुस्तक में लिखा है 'बाह्याचार मूलक जिन धार्मिक कृत्यों का खण्डन कबीरदास ने किया है लगभग उन सभी का खण्डन उनके पूर्ववर्ती हठयोगियों ने उसी प्रकार की चकनाचूर करने वाली भाषा में किया है। लेकिन यह परंपरा और भी पुरानी तथा और भी व्यापक है। योगियों के पूर्ववर्ती सहज यानी सिद्धों ने भिन्न-भिन्न मत के बाह्याचार का वैसा ही जोरदार खण्डन किया है।' इस संदर्भ में सरहपा का काव्य देखा जा सकता है जहाँ धार्मिक रूढ़ियों और कूप मंडूकताओं पर जबर्दस्त प्रहार मिलता है। ये तिलमिला देने वाले विचार कबीर में इस प्रकार अनुग्रहित हैं कि थोड़ी-सी शब्दों की

संरचना बदल दी जाए तो वे रचनाएँ कबीर की नहीं सरहपा की लगेंगी। लेकिन कबीर की शैली में धार और तेज अधिक गया है। वे उग्रता की सीमा तक जाते हैं। उनकी उग्र शब्दावली की रगड़ के दाग से कोई वंचित नहीं रह सकता। रूढ़ि-खंडन में तो कबीर की भाषा और उसका तेवर देखने लायक है। आचार्य द्विवेदी की जोर देने वाली बात शत-प्रतिशत लागू होती है। कबीर जानते कि सीधे-सीधे कहने वाली बात पर कोई ध्यान नहीं देता, इसलिए चेतावनी की भाषा ही विकल्प है। उन्होंने हिंदू-मुस्लिम रूढ़िवादिता का खंडन केवल खंडन के लिए नहीं किया है। वे मूलतः भक्त थे। उनकी कविता का केंद्रीय भाव भक्ति है। वे स्वयं कहते हैं 'जिहिं नर राम भगति नहिं - साधी, सो जनमत कस न मुवो अपराधी।' वे भक्ति को प्रधान मानते थे। उसके न रहने पर बाह्याचार का होना न होना गौण बात है। ऐसा जरूर है कि वे भक्ति की प्राप्ति के बाद बाह्याचारों का स्वयं नष्ट हो जाना जैसी बात पर विश्वास करते हैं। उनके मत से भक्ति और बाह्याडंबर का संबंध सूर्य और अंधकार-का-सा है। एक साथ दोनों नहीं रह सकते' (कबीर, हजारी प्रसाद द्विवेदी)

कबीरदास हिंदू और मुस्लिम रूढ़िवादिता के जाल को छिन्नकर ऐसे मानव धर्म की संकल्पना विकसित करना चाहते थे जहाँ पर राम और रहीम में कोई भेद न रहे, कोई किसी का शोषण न करे, क्योंकि परमप्रिय परमात्मा के लिए सभी जीव एक से हैं — 'साईं के सब जीव हैं, कीरी कुंजर दोय।'

विद्रोह के साथ अक्खड़ता भी कबीरदास को विरासत में मिली थी। वे निरर्थक साधना में लगे हुए को देखकर आँसू नहीं बहाते, बल्कि और अधिक निर्मम होकर उसे फटकारते थे। वे उसकी पर्तें उधेड़ने में आनंद तो नहीं पर रुचि जरूर लेते थे।

कबीरदास ने धार्मिक रूढ़िवाद के विभिन्न पक्षों का जो संकेत किया है, वह प्रासंगिक है। वे अपने विद्रोही तेवर के साथ इस लक्ष्य के प्रति कितने सफल हुए यह प्रश्न उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना यह देखना कि उस समय के समाज पर उसका क्या प्रभाव पड़ा। कबीर का उद्देश्य भी सफलता पाना शायद नहीं था। वे जो उचित समझते थे, तार्किक समझते थे, वैज्ञानिक समझते उसे बिना किसी लाग-लपेट के कहते । यही उनकी विशेषता थी। जिसे सफलता का तमगा चाहिए होता है वह अपनी बात बेलगाम नहीं कह सकता; समझौते का रास्ता अख्तियार करता है। कबीरदास का रास्ता अलग था। वह तो घर जोड़ने की माया का विरोध करते हुए घर जलाने की बात करते हैं। उनके साथ वह चल सकता था जो अपना सब कुछ लुटा दे, अपने आप को गला दे। कबीरदास रूढ़िवादिता और बाह्याचारिता के जंजाल को जलाने वाले क्रांतिधर्मी थे। यह क्रांतिधर्मिता उनमें अखंड विश्वास भावना के कारण ही थी जिसके चलते वे सभी तरह की रूढ़वादिताओं को छिन्न-भिन्न करके मनुष्यता की सामान्य भावना को विकसित कर सके, जहाँ हर मनुष्य एक दूसरे से मनुष्य के बतौर मिल सके।

9.6 सारांश

इस इकाई में हमने कबीर और धार्मिक रूढ़िवाद के व्यापक परिप्रेक्ष्य में कबीर की कविता में धार्मिक रूढ़वाद के विभिन्न स्तरों को देखा। मध्ययुग का समाज धार्मिक रूढ़ियों से भरा पड़ा था और ये रूढ़ियाँ प्रायः जितने धर्म थे, संप्रदाय थे, सब में थीं। कबीरदास ने इन रूढ़ियों का स्वानुभव के आधार पर विरोध किया क्योंकि रूढियाँ सामाजिक विकास की गति में बाधक थीं। समाज में अनेक प्रकार की रूढ़ियाँ थीं जो अंधविश्वास और अज्ञानता के आधार पर टिकी थीं। निर्गुण काव्यधारा का आधार ही ज्ञान था और ज्ञान के पोषक कबीर आख़िर तक ज्ञान की ही साधना करते रहे। इसके साथ ही अज्ञान और अंधविश्वास

के विरूद्ध उन्होंने ज्ञान की आँधी चलायी जिसमें रूढ़िवाद और आडम्बर का सफाया करने की कोशिश की। उनका लक्ष्य व्यापक मानवीय भाव था और रूढ़िवाद/पाखंडवाद के भेद को बेधकर वे एक ऐसे समाज की संकल्पना कर रहे थे जिसमें सब बराबर हों और किसी प्रकार के प्रपंच और पाखंडवाद के शिकार न हों। वे अपने लोक धर्म के माध्यम से उस सामंती व्यवस्था पर कुठाराघात करते हैं जिसमें पुरोहितवाद का वर्चस्व था और धर्म पर उनकी ठेकेदारी थी। इसे तोड़कर वे गरीबों, किसानों, जुलाहों और अछूतों में यह विश्वास क़ायम करने का प्रयास कर रहे थे कि काजी-मुल्ला और पंडित के बिना भी उनका काम चल सकता है। उन्हें इस बात का भरोसा हुआ कि शास्त्र और पुरोहित के बिना भी वे बेहतर जीवन जी सकते हैं। धार्मिक रूढ़िवाद के प्रति विद्रोह और उग्रता के पीछे कबीर में यह भाव भी था कि सामंती/ब्राह्मणवादी व्यवस्था में रूढ़ियाँ और अंधविश्वास ही वे मूल कारण हैं जिससे गरीब का शोषण होता है। कबीरदास धार्मिक रूढ़िवाद के इस शोषक रूप पर प्रहार करते हैं। उनकी महानता इस बात में है कि वे अपने कर्ममय और विवेकपूर्ण विचारशीलता से धर्म के अवैज्ञानिक और अविवेकपूर्ण रूप को तोड़ने का बड़ा काम करते हैं। यह उनका अपूर्व सामाजिक-सांस्कृतिक प्रदेय था जो धर्म को निर्गुण ब्रह्म के माध्यम से अवतारवादी-वर्णवादी व्यवस्था से मुक्त कर सार्वजनीन और विवेकवान बनाना चाहता था। वस्तुतः निर्गुणधारा का उदय ही धार्मिक रूढ़िवाद के प्रतिरोध स्वरूप हुआ था। कबीर उसके अग्रदूत थे।

9.7 अभ्यास-प्रश्न

1) कबीर के धार्मिक रूढ़िवाद-संबंधी विचारों पर प्रकाश डालिए।
2) कबीर की कविता में धार्मिक बाह्याचारों के विरोध पर टिप्पणी लिखिए
3) कबीरदास ने धार्मिक रूढ़िवाद का प्रतिरोध क्यों और कैसे किया है – विचार कीजिए।
4) कबीर के धार्मिक रूढ़िवाद संबंधी विचारों की आज के संदर्भ में क्या प्रासंगिकता है, विचार कीजिए।

9.8 कुछ उपयोगी पुस्तकें

- कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकलन प्रकाशन, नई दिल्ली।
- कबीर ग्रन्थावली : (सं.) श्यामसुन्दर दास, लोक भारती प्रकाशन, इलाहाबाद।

ignou THE PEOPLE'S UNIVERSITY

खंड के लिए कुछ उपयोगी पुस्तकें

भारतीय चिंतन परंपरा : डॉ. के. दामोदरन

कबीर : डॉ. हजारीप्रसाद द्विवेदी

कबीर वाणी : डॉ. पारस नाथ तिवारी

कबीर ग्रंथावली : श्याम सुंदर दास

कबीर वाङ्मय : खण्ड-1 और 2, संपादक : जयदेव सिंह और वासुदेव सिंह

ignou
THE PEOPLE'S
UNIVERSITY